❀ श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः ❀

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः

नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥

भागवत-पत्रिका

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक ।
भक्ति अधोक्षज की अहैतुकी विघ्नशून्य अति मंगलदायक ॥

सब धर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर ।
किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो, श्रम व्यर्थ सभी, केवल बन्धनकर ॥

वर्ष ४ | गौराब्द ४७२, मास—श्रीधर १५, वार—अनिरुद्ध
बुधवार, ३१ आषाढ़, सम्वत् २०१५, १६ जुलाई १९५८ | संख्या २

श्रीभक्तिविनोद-प्रभुवराष्टकम्

[त्रिदण्डिस्वामि-श्रीमद्भक्तिदेशिक-आचार्य-विरचितम्]

श्रीगौरप्रेष्ठं महतां महिष्ठं रागात्मनिष्ठं गुणवद्गरिष्ठम् ।
दयार्णवं तत्त्वविचारजीवं वन्दे प्रभुं भक्तिविनोददेवम् ॥१॥

आचार्यवर्यं परहंसधुर्यं भूतुल्यधैर्यं परशान्तिकार्यम् ।
भवाब्धिनावं हृतदुःखदावं वन्दे प्रभुं भक्तिविनोददेवम् ॥२॥

वेदान्तदक्षं परिधूतमोक्षं सत्संगरक्तं कुकथाविरक्तम् ।
दीनैकबन्धुं हरिप्रेमसिन्धुं वन्दे प्रभुं भक्तिविनोददेवम् ॥३॥

श्रीकृष्णचैतन्यकृपैकवित्तं तन्नामसञ्चारसुव्यग्रचित्तम् ।
स्वचारवन्तं सुप्रचारचिन्तं वन्दे प्रभुं भक्तिविनोददेवम् ॥४॥

श्रीनामसङ्कीर्त्तनभक्तिलग्नं श्रीराधिकाकृष्ण रसाब्धिमग्नम् ।
सदज्जलाक्षं श्रितभावलक्षं वन्दे प्रभुं भक्तिविनोददेवम् ॥५॥

श्रीभक्तिसिद्धान्तसरस्वतीन्दु-र्यस्येह मूर्त्तः सुप्रसादसिन्धुः ।
तनोति सर्वत्र हरिप्रभावं नमामि तं भक्तिविनोददेवम् ॥६॥
महाप्रभोः प्रेरणया प्रलुप्तं तद्धाम प्राकट्यमिह प्रणीतम् ।
रूपानुगं भागवतानुरागं नमामि तं भक्तिविनोददेवम् ॥७॥
श्रीगौरधाम व्रजधाम चैकं ज्ञात्वा विरेजे निरवद्यतर्क्यम् ।
श्रीगोद्रुमे कुंजगृहे सुभव्यं नमामि तं भक्तिविनोददेवम् ॥८॥
हे कृष्णपादाब्जप्रमत्तभृङ्ग ! हे शास्त्रसंविद् ! बुधसंगरङ्ग !
जगद्गुरो ! भक्तिविनोददेव ! प्रसीद मन्दे मयि वै सदैव ॥९॥
पद्याष्टकं भक्तिविनोदसुप्रभोः पठेद् य उच्चैरिह राधिकाविभोः ।
रमेत प्रेमाम्बुनिधौ महाशयः व्रजाश्रयं प्राप्य सदा न संशयः ॥१०॥

अनुवाद—

जो श्रीचैतन्यमहाप्रभुके अत्यन्त प्रियतम हैं, जो महान्‌जनोंमें भी अतिशय महान् हैं, जो राग-मार्गीय भजनके परायण हैं, जो गुणियोंमें श्रेष्ठ हैं, जो करुणाके समुद्र और तत्त्व-विवेचनमें सुनिपुण हैं, उन प्रभुवर श्रीभक्तिविनोदकी मैं वन्दना करता हूँ ॥१॥

जो आचार्योंमें श्रेष्ठ आचार्य हैं तथा परमहंस महात्माओंमें प्रधान हैं, जो पृथ्वीकी तरह सहिष्णु हैं, जो परा शान्तिको देनेवाले हैं, जो संसार-सागरको पार करानेमें नौका-स्वरूप हैं तथा जो दुःख-रूप दावाग्निको बुझा देनेवाले हैं, उन प्रभुवर श्रीभक्तिविनोद देवकी मैं वन्दना करता हूँ ॥२॥

जो वेदान्त शास्त्रमें अत्यन्त निपुण हैं, जो निर्विशेष-मोक्षको (तुच्छ जानकर) परित्याग करने वाले हैं, जो सत्संगमें अनुरक्त हैं, जो जड़ विषयोंकी चर्चाके प्रति उदासीन रहते हैं, जो दीनजनोंके एकमात्र बन्धु हैं, तथा जो कृष्ण-प्रेमके समुद्र हैं, उन प्रभुवर श्रीभक्तिविनोददेवकी मैं वन्दना करता हूँ ॥३॥

जो श्रीकृष्णचैतन्यदेवकी कृपारूपी धनके एकमात्र महाजन हैं, जो 'श्रीकृष्णचैतन्य' नामका प्रचार करनेमें अत्यन्त व्यग्र है, जो सदाचारी हैं तथा जगत्‌के कल्याणकारी प्रचारके लिये सर्वदा चिन्तित हैं, उन प्रभुवर श्रीभक्तिविनोददेवकी मैं वन्दना करता हूँ ॥४॥

जो श्रीनाम-संकीर्त्तनाख्या भक्तिके अनुशीलनमें सदा तत्पर हैं, जो श्रीश्रीराधाकृष्ण-रससमुद्रमें निमज्जित रहते हैं, राधाभावमें विभावित रहनेके कारण जिनके नेत्रोंसे सदा अश्रु-धारा प्रवाहित होती रहती है, उन प्रभुवर श्रीभक्तिविनोददेवकी मैं वन्दना करता हूँ ॥५॥

जिनके महान् कृपा-समुद्रके मूर्त्ति-स्वरूप श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती समस्त देशोंमें भगवान्‌की महिमाका प्रचार कर रहे हैं, उन श्रीभक्तिविनोदको मैं नमस्कार करता हूँ ॥६॥

जिन्होंने श्रीचैतन्य महाप्रभुकी प्रेरणासे उनकी (महाप्रभुकी) लुप्त अविर्भाव-स्थलीका पुनः प्रकाश किया है, जो रूपानुगभक्तोंके प्रति अनुरागयुक्त हैं, उन श्रीभक्तिविनोदको मैं नमस्कार करता हूँ ॥७॥

जो तर्कातीत गौरधाम और व्रजधामको अभिन्न जानकर श्रीगोद्रुमके (स्वानन्दसुखद) कुंज भवनमें सदा विराजित हैं, उन परम संत श्रीभक्तिविनोददेवको मैं नमस्कार करता हूँ ॥८॥

हे श्रीकृष्णके चरणकमलोंके प्रति अत्यन्त आसक्त भ्रमर ! हे सम्पूर्ण शास्त्रोंके पूर्ण ज्ञाताओंके प्रधान ! हे पण्डितसंगामोदी ! हे जगद्गुरो ! हे भक्तिविनोददेव ! आप मुझ सरीखे दीन-हीनके प्रति सर्वदा प्रसन्न रहें ॥९॥

जो श्रीराधा-वैभव श्रीभक्तिविनोद प्रभुवरके इस पद्याष्टकका जोर-जोरसे पाठ करते हैं, वे महान पुरुष व्रजधामका आश्रय प्राप्त कर कृष्ण-प्रेमके समुद्रमें सदा रमण करेंगे—इसमें तनिक भी संदेह नहीं है ॥१०॥

संत (सज्जन) के लक्षण

कृपालु (१)

सज्जन पुरुषोंको अर्थात् संतोंको पहचानना बड़ा कठिन होता है। भगवद्विमुख जीव तो इस कार्य में बहुधा भूल ही करते हैं। वे अधिकतर संतोंको असंत और असंतोंको संत समझ कर बड़े-बड़े अपराध कर बैठते हैं। इसका कारण सुस्पष्ट है—वे संतोंके लक्षणसे सर्वथा अनभिज्ञ होते हैं। वे अपने अनर्थ-पूर्ण दर्शनसे 'सज्जन' या 'संत' शब्दका कुछ दूसरा ही लक्षण प्रस्तुत करते हैं। किन्तु श्रीमन्महाप्रभुने सनातन गोस्वामीको संतके जो लक्षण बतलाये हैं, वे इस प्रकार हैं—

कृपालु[1], अकृतद्रोह[2], सत्यसार[3], सम[4] ।
निर्दोष[5], वदान्य[6], मृदु[7], शुचि[8], अकिंचन[9] ॥
सर्वोपकारक[10], शान्त[11], कृष्णैकशरण[12] ।
अकाम[13], निरीह[14], स्थिर[15], विजित-षड्गुण[16] ॥
मितभुक्[17], अप्रमत्त[18], मानद[19], अमानी[20] ।
गंभीर[21], करुण[22], मैत्र[23], कवि[24], दक्ष[25], मौनी[26] ॥
(चैतन्यचरितामृत)

वैष्णवका सबसे पहला लक्षण यह है कि वे कृपालु होंगे। श्रीगौरहरि संतोंके उपास्य और कृपालुओंके मूलाधार एवं मूल पुरुष हैं। गौर-विमुख दुर्जन व्यक्तियोंमें कृपालुता तथा अन्यान्य २५ गुणोंका अभाव होता है। श्रीमद्भागवत (५।१८।१२) में कहते हैं—

यस्यास्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः ।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणाः मनोरथेनासति धावतो बहिः ॥

अर्थात, जिस मनुष्यकी भगवान्में केवला भक्ति है, उसके हृदयमें समस्त देवता सम्पूर्ण सद्गुणोंके सहित सदा निवास करते हैं। किन्तु जो भगवान्का भक्त नहीं है, उसमें महापुरुषोंके वे गुण आ ही कहाँसे सकते हैं ? वह तो तरह-तरहके सङ्कल्प करके निरन्तर तुच्छ बाहरी विषयोंकी ओर ही दौड़ता रहता है।

जिसकी भगवान्में अप्राकृत भक्ति या सेवन वृत्ति है, वह समस्त गुणोंका अधिकारी होता है। हरि-सेवासे विमुख व्यक्तियोंमें भगवद्भक्तोंके वे गुण आ ही कहाँसे सकते हैं ? क्योंकि उनका मन सद्गुणोंकी खान श्रीहरिके चरणकमलोंका चिन्तन छोड़कर सदा विषयोंकी ही ओर दौड़ता रहता है। इसलिये यदि हरि-विमुख-जनोंमें कहीं सद्गुणोंका आभास दिखलाई भी पड़े, तो वे गुण उसमें नित्य निवास नहीं करते; बल्कि वे ही गुण कुछ दिनोंमें दोष बन जाते हैं।

दयानिधि गौरहरि दयाके समुद्र हैं। उनके शुद्ध भक्तजन ही यथार्थ कृपालु होते हैं। औरोंमें कृपालुता-की छाया दिखलाई पड़ने पर भी वह दया दया नहीं, बल्कि वास्तवमें केवल निष्ठुरता मात्र है।

करुणावरुणालय श्रीगौरहरिने जीवों पर नौ प्रकारकी दया की है। दयानिधिकी दया प्राप्त कर श्रीदामोदर-स्वरूप गोस्वामीने गौरहरिकी इस नौ

प्रकारकी दयाका वर्णन किया है* । उनकी यह दया अप्राकृत-पूर्ण, नित्य, शुद्ध, मुक्त और चैतन्य रसमयी होती है । अतः वह कभी भी जीवका कोई मन्द उदय नहीं करती । यह नौ प्रकारकी दया इस प्रकार है—

(१) अन्तःकरणके समस्त प्रकारके खेद-रूपी धूलिको उड़ा देनेवाली दया—बद्धजीव अन्याभिलाष, कर्म-आच्छादन तथा ज्ञान-आवरण—इन तीन श्रेणी-के दुःखोंकी धूलसे आच्छादित होकर अपना यथार्थ कल्याण भूलकर भगवद्विमुख हो गया है । दयानिधि गौरहरि उनके प्रति करुणासे आर्द्र होकर उनके ऊपर जमी हुई अधिभौतिक, अधिदैविक और आध्यात्मिक खेद रूप धूलिराशिको अनायास ही उड़ा कर उन्हें अपनी त्रितापनाशिनी चरण-सेवाका अधिकार प्रदान करते हैं ।

(२) शास्त्रीय विवादोंको दूर करनेवाली दया—बद्धजीव अन्याभिलाष, कर्मावरण और ज्ञानाच्छादन रूप त्रिविध मलोंसे युक्त होता है । प्राकृत जगत्में इन तीन प्रकारके मलोंसे युक्त तीन प्रकारके पुरुष अपनेको गुरु या महाजन प्रसिद्ध कर बद्धजीवोंके हृदयको और भी अधिक दूषित और भगवद् विमुख कर देते हैं । इस प्रकार बद्ध जीव अपने-अपने विचारों और प्राकृत मर्यादासे अन्ध होकर अपने हृदयको तर्क और विवादसे पूर्ण रखता है । दयानिधि गौरहरिने ऐसे-ऐसे तथाकथित महाजनों और शिक्षकों एवं शास्त्रोंके समस्त विवादोंको परमार्थ के लिये नितान्त तुच्छ और बाधक बतलाया है । शास्त्रीय विवादोंमें फँसा हुआ जीव अपने प्रति कभी भी यथार्थ दया नहीं कर सकता । श्रीगौरहरिको एकमात्र दयानिधि स्वीकार कर लेने पर समस्त प्रकारके शास्त्रीय विवाद दूर हो जाते हैं ।

(३) अमन्द उदय करानेवाली दया—बद्धजीवों ! तुमलोग शुद्ध भक्तिका अनुशीलन करो । उससे आत्मा प्रसन्नता लाभ करेगी । कृष्णकी सेवा ही जीवको विमल आनन्द प्रदान कर सकती है । सेवन-धर्मका उद्देश्य कोई प्राकृत वस्तु होनेसे वह ज्ञान, कर्म या अन्याभिलाष हो पड़ता है । श्रीमन्महाप्रभुने इनका त्याग करनेको उपदेश दिया है । परमार्थ-प्राप्तिके लिये भक्ति-पथके सिवा दूसरा पथ नहीं है—इसकी सम्यक उपलब्धि ही अमन्दोदया दया है । अमन्दोदया दया उस दयाको कहते हैं, जो कभी भी मन्द न उदय करे ।

(४) निर्मला दया—श्रीकृष्णकी सेवाद्वारा जीवात्माके ऊपरसे लगा हुआ समस्त प्राकृत मल दूर हो जाता है तथा वह निर्मल हो जाता है ।

(५) अप्राकृत रस-दात्री दया—मायाकी सेवाको दुःसङ्ग जानकर उसका वर्ज्जनकर सत्सङ्गमें कृष्ण-सेवा करनेसे जड़ रस तिरोहित हो जाता है और अप्राकृत रसका प्रादुर्भाव होता है ।

(६) शमता प्रदान करनेवाली दया—जड़-रसके तिरोहित होने पर कृष्णभक्ति द्वारा रसोदय होनेपर भक्त समदर्शी होता है ।

हेलोद्धूलित-खेदया विशदया प्रोन्मीलदामोदया
शाम्यच्छास्त्र-विवादया रसदया चित्तार्पितोन्मादया ।
शश्वद्भक्ति-विनोदया स-मदया माधुर्य-मर्यादया
श्रीचैतन्य दयानिधे ! तव दया भूयादमन्दोदया ॥

अर्थात्—हे दयानिधे श्रीचैतन्य ! जो दया हेलामें ही—अनायास ही समस्त खेदोंको दूर कर करती है, जिसमें सम्पूर्ण निर्मलता है, जिसमें अजस्र परमानन्द प्रकाशित है, जो (जीव-हृदय में) उदित होकर शास्त्र सम्बन्धी समस्त विवादोंको शान्त कर देती है, जो अप्राकृत रसकी वर्षा कर चित्तको उन्मत्त बना देती है और जिसकी भक्ति-विनोदन क्रिया सर्वदा शमता प्रदान करती है, माधुर्य द्वारा तुम्हारा अत्यन्त अधिक विस्तार करनेवाली वह शुभदा दया मेरे प्रति उदित होवें ।

(७) शुद्ध आनन्द देनेवाली दया—कृष्ण-विस्मृति रूपी धूल साफ होने पर निर्मल और शुद्ध सेवक कृष्णकी ह्लादिनी शक्तिकी दयासे शुद्ध आनन्द प्राप्त करते हैं।

(८) आनन्दोन्माद कारिणी दया—शास्त्र-विवाद दूर होने पर कृष्ण-तत्त्वका रसोदय होता है तथा रसोदय होने पर ह्लादिनी शक्तिकी कृपासे जीव अप्राकृत आनन्दसे उन्मत्त हो उठता है।

(९) कृष्णकी माधुर्य-मर्यादामें स्थित करनेवाली दया—श्रीकृष्णकी अप्राकृतसे वा करते-करते जीव हिंसा-द्वेषसे शून्य होकर सर्वत्र ही कृष्ण भावका दर्शन कर कृष्णकी-माधुर्य-मर्यादामें स्थिर हो जाता है।

श्रीचैतन्यदेवके सेवक, दयासागर श्रीचैतन्य महाप्रभुके निकट उक्त नौ प्रकारकी दया प्राप्त होकर कृपालु होते हैं। यदि वे कृपालु न हों तो दयासागर श्रीगौर हरि उनको अपनाते नहीं हैं।

कोई-कोई ऐसा प्रश्न कर सकते हैं कि श्रीगौर-हरि अन्याभिलाषी, कर्मी या ज्ञानियोंके ऊपर दया नहीं करते, परन्तु एकमात्र शुद्ध हरिभक्तों पर ही दया करते हैं; ऐसा क्यों ? उन्होंने अभक्तजनोंके दुर्व्यवहारों का अनुमोदन क्यों नहीं किया है ? क्या इससे उनके 'दयानिधि' नाममें दोष नहीं स्पर्श करता ? प्राकृत सहजिया अपनेको मौखिक रूपमें गौरहरि, नित्यानन्द प्रभु तथा दयासागर श्रीनरोत्तम ठाकुर तथा मूर्त्तिमान दयामय श्रीवैष्णवजनोंका अनुगत बतलाकरके भी प्रकाश्यरूपमें कपटताका आश्रयकर स्वार्थ प्रचारमें बड़े निपुण होते हैं। वे पूर्वोक्त नौ प्रकारकी दयाका कोई अंश क्यों नहीं प्राप्त हुए ?

इसके उत्तरमें कहा जा सकता है कि ऐसा पूर्व-पक्ष उपस्थित करनेवाले महाशय भगवान् और भक्तको दयामय माननेके लिये शायद प्रस्तुत नहीं हैं। बल्कि अपने आपात मधुर इन्द्रिय-सुखोंकी प्राप्तिमें सहायता करने वालोंको ही यथार्थ दयालु मानते हैं। जो उनके इन्द्रिय-सुखकी प्राप्तिमें तनिक भी बाधक सिद्ध होंगे, उनको वे अपना परम शत्रु समझेंगे। ऐसे लोगोंको वे भक्त या भगवान् माननेके लिये प्रस्तुत नहीं हैं। किन्तु यथार्थ बात तो यह है कि उनके कल्पित गौर-हरि—भगवान् नहीं हैं, वे तो केवल उनके भोग-विलासमें सहायक—क्रीड़ा-पुतली मात्र हैं। सज्जन कृपालु होते हैं। असत्-सङ्गका त्याग करनेके कारण वे अपने प्रति अत्यन्त दयायुक्त होते हैं। दूसरी तरफ, जो लोग जड़ विचारसे दया परवश होकर इन्द्रिय-सुखमें ही व्यस्त रहा करते हैं एवं जड़ प्रतिष्ठाके लिये कपटताका आश्रयकर मूर्खजनोंके निकट भोगमय संसारको हरिसेवामय बतलाते हैं, वे कृपालु नहीं हैं। जो लोग इन्द्रिय-सुखोंमें आसक्त दुर्बल जीवोंको भोगमय संसारमें और भी अधिक आसक्त करनेके लिये यथार्थ-धर्मको ढकनेका प्रयत्न करते हैं, जो कटु सत्य बोलकर किसीका अप्रिय बननेकी इच्छा नहीं करते, जो मूर्ख लोगोंका नेता बननेके लिये सदा प्रयत्नशील होते हैं, वे कभी भी सज्जन नहीं हो सकते हैं, वे कभी भी कृपालु नहीं हो सकते हैं। कृपालु होनेके लिये किसी भी अवस्थामें सत्यका आच्छादन करना उचित नहीं। मुखसे शुद्ध-सेवक कहलाकर दयामय वैष्णवोंकी अमर्यादा करना, कुमतका आचरण करना दयालुता नहीं है, वह तो दया-शून्यताका परिचय है। सज्जन सर्वदा कृपालु होते हैं।

—ॐ विष्णुपाद श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती

वैष्णव-सिद्धान्त-माला

नव प्रमेय-सिद्धान्त

[पूर्व—प्रकाशित वर्ष ४, संख्या १, पृष्ठ १० के आगे]

छठा अध्याय

जीव—श्रीहरिका दास है

प्रश्न—जीवका नित्यधर्म क्या है ?

उत्तर—कृष्णदास्य ही जीवका नित्यधर्म है।

प्र०—जीवका विधर्म क्या है ?

उ०—अभेदवाद स्वीकार कर निर्वाणका अनुसंधान करना अथवा जड़गत सुख या सामर्थ्यका अन्वेषण करना ही जीवका विधर्म है।

प्र०—इन्हें विधर्म क्यों कहा जाता है ?

उ०—जीव—चिन्मय है; चिन्मय वस्तुमात्रका धर्म है—आनन्द या प्रीति । निर्विशेषवादमें आनन्द नहीं है। केवल चरम विनाश ही निर्विशेषवादका मूल प्रयोजन है। जड़ीय-विशेषवादमें जीवके चिद्-धर्मगत विशेषकी हानि होती है। निर्विशेषवाद और जड़वाद दोनों ही जीवके विधर्म हैं।

प्र०—जड़गत सुखका अन्वेषण कौन करते हैं ?

उ०—इन्द्रिय-सुखोंमें आसक्त (कर्म-जड़) पुरुष ही कर्ममार्ग द्वारा स्वर्ग आदि जड़ सुखोंका अन्वेषण करते हैं।

प्र०—जड़गत सामर्थ्यका अनुसंधान कौन करते हैं ?

उ०—अष्टांग-योग-मार्गसे सिद्ध हुए योगीजन तथा षड़ंग-योगीजन ये दोनोंही विभूतिके प्रभावसे जड़-सामर्थ्यका अनुसंधान करते हैं।

प्र०—जड़ जगत्का सुख या निर्वाण तुच्छ होने पर जीवका बच ही क्या रहता है ?

उ०—जीवका निजस्व सुख बच रहता है। पूर्व कथित दोनों प्रकारके सुख ही सोपाधिक हैं; निज-सुखानुभूति ही निरूपाधिक है।

प्र०—निज-सुखानुभूति किसे कहते हैं ?

उ०—जड़ सम्बन्धरहित जीवका शुद्धचैतन्यगत कृष्णानुशीलन रूप सुख ही निज-सुख है।

सातवाँ अध्याय

जीवका तारतम्य

प्र०—सब जीव क्या एक ही प्रकार के हैं ? अथवा उनमें कोई तारतम्य है ?

उ०—तारतम्य है।

प्र०—कितने प्रकारके तारतम्य हैं ?

उ०—दो प्रकार के हैं—स्वरूपगत तारतम्य और उपाधिगत तारतम्य।

प्र०—जीवकी उपाधि क्या है ?

उ०—कृष्ण-विमुखताके कारण माया जीव-स्वरूपको ढक लेती है। यह माया ही जीवकी उपाधि है।

प्र०—सभी जीव निरूपाधिक क्यों नहीं हुए ?

उ०—जिन्होंने भगवद्दास्यके अतिरिक्त कुछ भी

अङ्गीकार नहीं किया, वे अपने स्वरूपगत निरुपाधिकत्वका परित्याग नहीं किये, उनका कृष्ण-सान्मुख्य नित्य है। और जिन्होंने विषयभोगोंको स्वार्थ मानकर कृष्ण-विमुखता स्वीकार किया, वे माया निर्मित इस विश्व-कारागारमें बन्द हो गये।

प्र०—कृष्ण तो सब कुछ कर सकते हैं, यदि वे उस प्रकारकी दुर्बुद्धिसे जीवकी रक्षा किये होते तो अच्छा था; उन्होंने वैसा क्यों नहीं किया ?

उ०—इस विषयमें यदि जीवकी स्वतंत्रता नहीं रहती, तो जीवका स्वरूप एक प्रकारसे जड़ वस्तुके समान होता; उससे चिद्वस्तुका जो स्वतंत्रानन्द है, उसे जीव प्राप्त नहीं करता।

प्र०—जीवका स्वरूप क्या है ?

उ०—जीव चिद्वस्तु है और आनन्द ही उसका धर्म है।

प्र०—स्वरूपगत तारतम्य कितने प्रकारके हैं ?

उ०—पाँच प्रकारके हैं। चिद् जगत्में पाँच प्रकारके नित्य रस हैं उन-उन रसोंमें स्थित जीवोंमें स्वरूपगत तारतम्य है।

प्र०—पाँच प्रकारके रस क्या-क्या हैं ?

उ०—पाँच प्रकारके रस ये हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और शृङ्गार।

प्र०—इन पाँचोंका अलग-अलग अर्थ बतलाइये ?

उ०—(१) कृष्णके प्रति सम्बन्ध-रहित अनुरक्ति का नाम—शान्तरति है। (२) कृष्णके प्रति सम्बन्धयुक्त किन्तु सम्भ्रमयुक्त अनुरक्तिका नाम—दास्यरति है। (३) सम्बन्धयुक्त संभ्रमहीन, अथच विश्रंभयुक्त कृष्णानुरक्तिका नाम—सख्यरति है। (४) सम्बन्धयुक्त, स्नेहपूर्ण कृष्णानुरक्तिका नाम—वात्सल्यरति है तथा (५) सौन्दर्ययुक्त रागमयी अवस्थाको प्राप्त रतिका नाम—शृङ्गार रति है।

प्र०—रति और रसमें क्या अन्तर है ?

उ०—विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और व्यभिचारी के साथ मिलकर जब रति पुष्ट होती है, तब नित्यसिद्ध रसका उदय होता है। रस—परमानन्द स्वरूप है।

प्र०—उपाधिगत तारतम्य कितने प्रकारके होते हैं ?

उ०—तीन प्रकारके होते हैं—(१) आच्छादित चेतन जीव, जैसे—वृक्ष (२) सङ्कोचित चेतन-जीव; जैसे पशु, पक्षी। (३) मुकुलित-चेतनजीव; जैसे—भक्तिशून्य मनुष्य।

प्र०—मुक्त और बद्धके विचारसे जीव कितने प्रकारके हैं ?

उ०—तीन प्रकारके हैं;-(१) नित्यमुक्त अर्थात् जड़से परे, (२) बद्ध-मुक्त अर्थात् जड़में है, परन्तु उसमें आबद्ध नहीं हैं; (३) नित्यबद्ध अर्थात् जड़में आबद्ध जीव।

प्र०—इनमेंसे नित्यबद्ध कौन हैं ?

उ०—आच्छादित-चेतन, सङ्कोचित-चेतन और मुकुलित-चेतन ये तीनों प्रकारके जीव ही नित्यबद्ध हैं।

प्र०—बद्धमुक्त जीव कितने प्रकारके हैं ?

उ०—दो प्रकारके हैं—(१) विकसित-चेतन अर्थात् साधन भक्त; और (२) पूर्ण-विकसित-चेतन अर्थात् भाव भक्त।

प्र०—नित्यबद्ध और बद्धमुक्त जीव कहाँ रहते हैं ?

उ०—इस मायिक विश्वमें रहते हैं।

प्र०—नित्यमुक्त जीव कहाँ रहते हैं ?

उ०—चिज्जगत्में अर्थात् वैकुण्ठमें

प्र०—मुकुलित चेतनजीव कितने प्रकारके होते हैं ?

उ०—अनेक प्रकारके होते हैं। तत्त्वलाघव प्रक्रिया द्वारा (मोटे तौर पर) उन्हें छः श्रेणियोंमें विभक्त किया जा सकता है। छः विभाग ये हैं—

(१) असभ्य मूर्ख मानव;-जैसे पुलिन्द, शबरादि।

(२) सभ्यता, जड़विज्ञान और शिल्प-विज्ञान आदिसे सम्पन्न मानव—जिनमें नीति और ईश्वर विश्वास नहीं होता; जैसे—म्लेच्छगण (डोम आदि)।

(३) निरीश्वर, किन्तु सुन्दर नीति परायण मानव; जैसे—बौद्धादि।

(४) कल्पित-ईश्वरवाद-युक्त नीति परायण; जैसे—कर्मवादी।

(५) ईश्वरको स्वीकार करके भी भक्तिरहित मानव;

(६) निर्विशेषवादको ग्रहण करनेवाले मानव; इनको ज्ञानकाण्डी कहते हैं।

प्र०—इनमें किस प्रकारका तारतम्य वर्तमान है ?

उ०—आच्छादित चेतनसे लेकर मुकुलित चेतन तकके जीवोंका तारतम्य विचार भक्तितत्त्वकी उपयोगिताके तारतम्यके अनुसार होता है। विकसित चेतन और पूर्ण-विकसित चेतनका तारतम्य स्पष्ट ही है।

आठवाँ अध्याय

कृष्णके चरणकमलोंकी प्राप्ति ही मोक्ष है

प्र०—मोक्ष कितने प्रकारके होते हैं ?

उ०—लोग साधारणतः सालोक्य, सार्ष्टि सामीप्य, सारूप्य और सायुज्यको मोक्ष कहते हैं। उनमें सायुज्य निर्वाण और एकत्व रूप मोक्ष चिन्ता निर्विशेषवादके अन्तर्गत एक भ्रम मात्र है। वैसा मोक्ष जीवोंके लिये चिन्तनीय नहीं है। ब्रह्मकी तरफ से विवेचन करनेपर वैसी मुक्ति किसी प्रकारसे सिद्ध तो होती है, किन्तु जीवोंके लिये उपयुक्ति नहीं बैठती। जब युगपत् भेदाभेद ही सत्य प्रमाणित हो चुका है, तब भेद-नाशक केवल अभेदवाद स्थायी नहीं हो सकता है।

प्र०—फिर यथार्थ मोक्ष किसको कहा जाय ?

उ०—विशुद्धरूपमें श्रीकृष्णके चरणकमलोंका आश्रय पाना ही मोक्ष है।

प्र०—श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें आश्रय-लाभको क्यों मोक्ष मानें ?

उ०—श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें आश्रय-प्राप्ति और जड़सम्बन्धसे छुटकारा एक ही साथ होता है। छुटकारा कार्य थोड़ा होनेपर ही फल प्रदान करता हुआ पर्यवसित हो जाता है। श्रीकृष्णचरणामृत-पानानन्द ही नित्यफल है। अतएव मोक्ष और किसे कहें ?

प्र०—एक उदाहरण देकर इसे स्पष्ट कीजिए।

उ०—प्रदीपका जलना और अन्धकारका दूर होना—दोनों कार्य एक ही साथ होते हैं। अन्धकारका नाश होना—मोक्ष स्थानीय तत्त्व है और प्रदीपका आलोक कृष्णचरणामृत-स्थानीय तत्त्व है। प्रदीपका आलोक—नित्य है और अन्धकार-नाश-कार्य नित्य नहीं है, वह किसी एक समय होता है। आलोक-प्रकाश ही नित्य तत्त्व है।

(क्रमशः)

—ॐ विष्णुपाद श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर

अचिन्त्यभेदाभेद

केवल मतभेद ही सम्प्रदाय-भेदका कारण नहीं

(पूर्व प्रकाशित वर्ष ४, संख्या १, पृष्ठ १८ से आगे)

(ख) अद्वैतवादियोंकी बात अलग रहे, अपनेको गौड़ीय वैष्णव कहलाने वाले सहजिया भी श्रीजीव-गोस्वामीके साथ श्रीकविराज गोस्वामीका पार्थक्य निरूपण करते हैं। इतना ही नहीं, वे श्रीजीव गोस्वामी और उनके साक्षात् मन्त्रदीक्षा गुरु श्रीरूप गोस्वामी में भी परस्पर मतकी दृष्टिसे, कर्त्तव्यकी दृष्टिसे तथा आचार-व्यवहारकी दृष्टिसे भेद स्थापन करते हैं। परन्तु श्रीचैतन्यचरितामृतके अनुसार इन अर्वाचीन मतोंके भ्रमपूर्ण विचार-समूह सम्पूर्ण निराधार हैं—

> अनुपम--वल्लभ, श्रीरूप-सनातन।
> एइ तीन शाखा—वृक्षेर पश्चिमे गणन॥
> तारमध्ये रूप सनातन—बड़ शाखा।
> अनुपम, जीव, राजेन्द्रादि उपशाखा॥
>
> (चै. च. आ. १०।८४-८५)

उक्त ८५ वें पयारके अनुभाष्यमें विश्वविख्यात् जगद्गुरु गोस्वामी-कुल वरेण्य परमहंसकुल उपास्य अद्वितीय-गौड़ीय-वैष्णवाचार्य ॐ विष्णुपाद श्रीमद्-भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामीने इस प्रकार लिखा है—

"अनभिज्ञ प्राकृत सहजिया सम्प्रदायमें जीव गोस्वामीके विरुद्ध तीन अपवाद प्रचलित हैं। इनके द्वारा वे हरि-गुरु-वैष्णवोंका विरोध कर अपराधके भागी बनते हैं। वे तीन अपवाद ये हैं—

(१) एक समय एक जड़ प्रतिष्ठाकामी एक दिग्विजयी पण्डित दिग्विजयकी वासनासे व्रजमें आये। वहाँके पण्डितोंकी परामर्शके अनुसार व्रजके सर्वश्रेष्ठ विद्वान् रूप-सनातन और जीवको परास्त करना अथवा उनसे जयपत्र लिखवालेना उनके दिग्विजयी बननेके लिये आवश्यक था। अतः वे रूप, सनातनके पास पहुँचे। परम निष्किञ्चन संतशिरोमणि श्रीरूप-सनातनने बिना वाद-विवादके यों ही जयपत्र लिख दिये। अनन्तर अपने विजयकी डींगें मारता हुआ वह जीव गोस्वामीके पास पहुँचा और उनके गुरु श्रीरूप-सनातनको मूर्ख बतलाते हुए उनको भी जयपत्र लिख देनेके लिये कहा। गुरुवर्गकी निन्दा सुनकर जीव गोस्वामीके होठ काँपने लगे। जीव गोस्वामी थे तो बालक, किन्तु प्रकाण्ड विद्वान भी थे। उन्होंने दो-चार बातोंमें ही दिग्विजयी पण्डितकी बोलती बन्द कर दी। इस प्रकार गुरुवर्गकी निन्दा करने वालेकी जिह्वाको स्तंभित कर श्रीगुरुदेवके पदनखकी शोभा की मर्यादा स्थापित कर उन्होंने एक सच्चे शिष्यका आदर्श स्थापित किया।

परन्तु विद्याबुद्धिके चिरशत्रु सहजिया इस विषय को ठीक-ठीक रूपमें ग्रहण करनेमें असमर्थ होकर इसे इस प्रकार रखते हैं कि, जीवगोस्वामीका वैसा आचरण 'तृणादपि सुनीचता' और 'मानद' धर्मके विपरीत था। इसलिये रूपगोस्वामीने बिगड़कर उनका परित्याग कर दिया था। पीछेसे श्रीसनातन गोस्वामी के कहने-सुननेसे श्रीरूपगोस्वामीने पुनः जीवगोस्वामी को अपने पास रखा था।

ये गुरु-वैष्णव विरोधिगण कृष्णकी कृपासे जिस दिन अपनेको गुरुवैष्णवोंका नित्यदास समझेंगे, उसी दिन श्रीजीवपादकी कृपा प्राप्तकर ये यथार्थ 'तृणादपि सुनीच' और 'मानद' होकर हरिकीर्त्तनके अधिकारी हो सकेंगे।

(२) कोई-कोई अनभिज्ञ कहते हैं,—'श्रीकृष्ण-दास कविराज गोस्वामीके 'चैतन्यचरितामृत' की

अतीव सुन्दर रचना को और उसमें वर्णित अप्राकृत व्रजरसके अनुपम सुन्दर भावको देखकर जीव-गोस्वामीको बड़ी ईर्ष्या हुई। उन्होंने सोचा कि उस ग्रन्थके प्रकाशित होनेसे मेरी प्रतिष्ठा धूलमें मिल जायगी। इसलिये उन्होंने चैतन्यचरितामृतकी मूल हस्तलिपिको एक कूएँमें फेंक दिया। इससे कविराज गोस्वामीके हृदयमें बड़ा आघात पहुँचा। वे उसी शोकसे अपने प्राणोंका परित्याग कर दिये। इस घटनाके पहले ही कविराज गोस्वामीके शिष्य 'मुकुन्द' नामक एक व्यक्तिने चैतन्यचरितामृतकी पाण्डुलिपिकी नकल कर रखी थी। इसीलिये चैतन्यचरितामृत आज भी संसारमें सुलभ है अन्यथा आज इस ग्रन्थरत्नका कोई अस्तित्व ही नहीं होता।'

उपरोक्त अपवाद सम्पूर्ण मिथ्या, निराधार असंभव और वैष्णव विद्वेषमूलक है।

[ध्यान देनेकी बात है कि सहजियागण श्रीजीव गोस्वामीके षट्सन्दर्भ आदि ग्रन्थोंकी अपेक्षा कविराज गोस्वामीके 'चैतन्यचरितामृत' ग्रन्थका आदर अधिक करते हैं।]

(३) इन्द्रिय-सुखमें तत्पर कुछ दूसरे व्यभिचारी व्यक्तियोंका कहना है—श्रीजीवगोस्वामीने श्रीरूप-गोस्वामीके मतानुसार व्रजगोपियोंके पारकीय रसको स्वीकार नहीं किया है। बल्कि उन्होंने स्वकीय रस का अनुमोदन किया है। इसलिये जीव गोस्वामी रसिक भक्त नहीं थे। अतः उनका आदर्श ग्रहण करने योग्य नहीं है।

वास्तवमें उपर्युक्त अभियोग भी सम्पूर्ण निराधार और मिथ्या है। यथार्थ बात तो यह है कि जीव-गोस्वामीने अपने प्रकटकालमें अपने अनुगतजनोंमें से कुछ भक्तोंकी रुचि स्वकीय रसकी तरफ लक्ष्यकर उनके कल्याणके लिये उनके अधिकारको समझकर एवं पीछेसे अनाधिकारी लोग अप्राकृत परमचमत्कार-पूर्ण पारकीय व्रजरसके महात्म्य और सौन्दर्यको न समझ कर स्वयं वैसा आचरण कर व्यभिचार न कर बैठें, इसलिये वैष्णवाचार्य श्रीजीव गोस्वामीने स्वकीयवादका उल्लेख किया है। किन्तु इसीलिये उनको अप्राकृत पारकीय व्रजरसका विरोधी मान बैठना भूल है। क्योंकि वे स्वयं श्रीरूपानुग आचार्योंमें सर्व श्रेष्ठ हैं—वे साक्षात् श्रीकविराज गोस्वामीके शिक्षा-गुरुओंमें से एक हैं।" *

यद्यपि सहजियागण श्रीजीवगोस्वामीका श्रीकविराजगोस्वामी और श्रीरूप गोस्वामीके साथ मिथ्या भेद निरूपण किये हैं, तथापि उन्होंने जीव गोस्वामी को श्रीमन्महाप्रभुके सम्प्रदायका एक प्रधान आचार्य स्वकार किया है। युक्तिके लिये ऐसा मतभेद स्वीकार करने पर भी उस मतभेदको सम्प्रदाय-भेदका कारण कदापि नहीं माना जा सकता है।

(ग) श्रीमुरारी गुप्तके सम्बन्धमें विद्याविनोद महाशयका क्या दृष्टिकोण होगा—समझना कठिन है। क्या वे उनको गौड़ीय-वैष्णव-सम्प्रदायसे छाँट कर बाहर कर देंगे? यदि वे ऐसा करते हैं, तो हम उनसे यह पूछना चाहते हैं कि आखिर वे उनको किस सम्प्रदायमें रखेंगे? मुरारी गुप्त श्रीमन्महाप्रभुकी लीला में एक अनन्य सेवकका ज्वलंत आदर्श स्थापित किया है। वे श्रीमन्महाप्रभुकी अत्यन्त विचारपूर्ण युक्तियों का श्रवण करके भी उसमें अपनी निष्ठा स्थापित नहीं कर सके हैं। बल्कि श्रीमन्महाप्रभु द्वारा उन्नत उज्ज्वल (शृङ्गार) रसकी कृष्णसेवाका श्रेष्ठत्व प्रदर्शन किये जाने के बावजूद भी मुरारीगुप्तने उसकी अपेक्षा न्यून करुण-रसके अधिदेवता श्रीरामचन्द्रकी सेवाके प्रति ही अधिक निष्ठाका आदर्श प्रस्तुत किया है। और इतना होने पर भी श्रीचैतन्य महाप्रभुने मुरारी गुप्तको श्रीगौड़ीय सम्प्रदायका एक आदर्श वैष्णव स्वीकार किया है। श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी ने इस प्रसंगको बड़े ही रोचक ढंगसे अतीव प्राञ्जल

*श्रीगौड़ीय मठसे ४४२ गौराब्दमें (सुन्दरानन्दके शिक्षागुरु) श्रीअनन्त वासुदेव विद्याभूषण द्वारा प्रकाशित श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत, अमृतप्रवाह भाष्य और अनुभाष्य, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ २०३-२०४।

शब्दोंमें बड़े ही गौरवके साथ वर्णन किया है। नीचे उसका अनुवाद दिया जा रहा है—

एक बार श्रीचैतन्य महाप्रभुने मुरारी गुप्तकी राम निष्ठाका आदर्श परीक्षा लेनेके मिस जगत्में प्रचार करनेके लिये मुरारी गुप्तसे बड़े ही मधुर शब्दोंमें कहा—'गुप्त ! तुम नवकिशोर नटवर व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर श्रीकृष्णका भजन क्यों नहीं करते ? वे मदनमोहन श्रीकृष्ण ही—स्वयं भगवान् हैं। वे ही समस्त अवतारोंके मूल अंशी और मूलाधार हैं। वे सर्वशक्तिमान एवं सम्पूर्ण रसोंके आश्रय हैं, वे विदग्ध चतुर, धीर और रसिक शिरोमणि हैं। उनका मधुर चरित्र त्रिभुवनको मोहित करता है, उनके मधुर विलासके ऊपर भक्तजन अपनेको न्यौछावर कर देते हैं। जिनका चातुर्य और वैदग्ध्य लीलारसकी पुष्टि करते हैं, उन श्रीकृष्णको छोड़ कर भला कौन व्यक्ति किसी दूसरेका भजन करेगा ! अतएव तुम भी उन त्रिभुवन मोहन श्रीकृष्णका एकान्त मनसे भजन करो।

महाप्रभुकी बातोंसे मुरारी गुप्तका चित्त बदल गया। वे 'जैसी आज्ञा' कहकर घर लौटे। घर तो लौटे, परन्तु चैन कहाँ ? सारी रात सोचते रहे—क्या करूँ ? श्रीरामचन्द्रको छोड़ कर मैं एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता। दूसरी तरफ,श्रीमहाप्रभुजीकी आज्ञा भी टालूँ तो कैसे टालूँ ? हाय ! मेरे प्राण क्यों नहीं निकलते ?' इस प्रकार सारी रात रोते-रोते ही बीती। प्रातःकाल होते-न होते ही वे महाप्रभुजीके समीप उपस्थित हुए और उनके चरणोंमें गिर कर रोते-रोते बोले—प्रभो ! मेरा उद्धार कीजिये। मैं बड़ा संकटमें पड़ा हुआ हूँ, क्या करूँ, कुछ समझमें नहीं आरहा है। एक ओर श्रीरामचन्द्रके चरणोंमें मैंने अपना मस्तक बेच रखा है; हटानेसे मेरा हृदय फटने लगता है। दूसरी तरफ, ऐसा नहीं करनेसे आपकी आज्ञाका उल्लंघन होता है। इस उभय सङ्कटकी स्थितिमें आपसे प्रार्थना है कि आप मुझ पर ऐसी दया करें कि आपके सामने ही मेरे प्राण निकल जाँय।'

मुरारी गुप्तके अत्यन्त दुःख भरे वचनोंको सुनकर महाप्रभुजीको बड़ा सन्तोष हुआ। उन्होंने प्रेमसे गद्-गद् होकर मुरारी गुप्तको उठाकर आलिंगन करते हुए कहा—'साधु ! साधु ! गुप्त, मैं तुम्हारी रामनिष्ठाकी परीक्षा ले रहा था। तुम उसमें उत्तीर्ण हुए। तुम्हारी उपास्य-निष्ठा आदर्श है। मेरे इतना लुभाने पर भी तुम्हारा मन तनिक भी विचलित नहीं हुआ। तुम धन्य हो। धन्य क्यों न होगे, साक्षात् श्रीरामके सर्वश्रेष्ठ किङ्कर हनुमान जो ठहरे। तुम उनके चरणोंको भला छोड़ने क्यों चले। मैं तुम पर बड़ा प्रसन्न हूँ, तुम मेरे प्राणोंके समान प्रिय हो। शान्त होओ। तुम्हारे इन दीन शब्दोंको सुन कर मेरा हृदय फटा जा रहा है।'

मुरारी गुप्त महाप्रभुके चरणोंको अपने अश्रुजलसे पखार रहे थे और भगवान् भी प्यारे भक्तको अपनी शत-शत अश्रुधाराओंसे नहला रहे थे। भक्तगण—कारुण्य-विग्रह आराध्यतमकी प्रेममयी लीलाका एक टकसे आस्वादन कर चित्रवत खड़े होकर आँखोंसे सावन-भादोंकी वर्षा बरसा रहे थे।

अब यहाँ ध्यान देनेकी बात है कि गौड़ीय वैष्णवोंके उपास्य और मुरारी गुप्तके उपास्य एक नहीं—भिन्न-भिन्न हैं; इसके अतिरिक्त मुरारी गुप्त स्वयं भगवान् श्रीचैतन्यदेवकी शिक्षाके प्रति निष्ठा भी स्थापन नहीं कर सके। तथापि सबने एक स्वरसे उनको गौड़ीय वैष्णवोंका प्रधान और प्रामाणिक आचार्य माना है। विद्याविनोद महाशय भी इससे अछूते नहीं बचे हैं (क)। मुरारी गुप्तका 'कड़चा' श्रीचैतन्य-चरितामृतका प्रधान उपादान है। अतएव श्रीमन्महाप्रभुसे कुछ विषयोंपर मतभेद होनेपर भी मुरारी गुप्तको किसी भिन्न सम्प्रदायका वैष्णव नहीं कहा गया है।

एक बात और विचारणीय है। कुछ लोग मुरारी गुप्तको मध्वाचार्यका अवतार मानते हैं। इसका कारण यह है कि कविकर्णपूरने 'श्रीगौरगणोद्देश-

(क) सुन्दरानन्द विद्याविनोद द्वारा रचित 'अचिन्त्यभेदाभेदवाद' १३ वाँ प्रसङ्ग, पृष्ठ १२३-१२४।

दीपिका' में मुरारीगुप्तको साक्षात् हनुमान (क) कहा है। दूसरी तरफ मध्वाचार्य हनुमानके अवतार हैं—इसमें दो मत नहीं हैं। अतएव तत्त्वतः श्रीमध्वाचार्य और श्रीमुरारी गुप्त एक ही ठहरते हैं। 'वाद' ग्रन्थके लेखक, सुन्दरानन्द विद्याविनोद महाशयने भी वायु पुराणके कतिपय श्लोकोंको उद्धार कर श्रीमध्वाचार्यको 'वायुका प्रथम अवतार श्रीरामसेवक हनुमान कहा (ख) है। सुन्दरानन्दके विद्यागुरु अनन्तवासुदेव विद्याभूषण महाशयने भी लिखा है—"श्रीमाध्व सम्प्रदायके प्रत्येक ग्रन्थके मङ्गलाचरणमें ऐसा नमस्कार देखा जाता है—'श्रीमद्धनुमद्-भीम—मध्यान्तर्गत-राम-कृष्ण-वेद व्यासात्मक लक्ष्मी हयग्रीवाय नमः (ग)।' (अर्थात्) श्रीहनुमानके अन्तर्यामी श्रीरामचन्द्रजी, भीमसेनके अन्तर्यामी श्रीकृष्ण और मध्वाचार्यके अन्तर्यामी श्रीवेदव्यास हैं। लक्ष्मीदेवीके साथ हयग्रीव विष्णु ही वेदशास्त्रोंके रक्षाकर्त्ता और व्याख्याता हैं।

(क्रमशः)

ॐविष्णुपाद श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव महाराज

(क) मुरारिगुप्तो हनुमान, अङ्गदः श्रीपुरन्दरः। (आश्विन, १३२६ बङ्गाब्दमें रामदेवमिश्र-प्रकाशित 'गौरगणोद्देश-दीपिका', ४ र्थ संस्करण, श्लोक-६१)

(ख) "वायोर्दिव्यानि रूपाणि पद्मत्रययुतानि च। त्रिकोटिमूर्त्ति-संयुक्त-स्त्रेतायां राक्षसान्तकः॥ हनुमानिति ख्यातो रामकार्य-धुरन्धरः। स वायुर्भीमसेनोभूद्द्वापरान्ते कुरुद्वहः॥ कृष्णं संपूजयामास हत्वा दुर्योधनादिकान॥ द्वैपायनस्य सेवार्थं बदर्यां तु कलौ युगे। वायुश्च यतिरूपेण कृत्वा दुःशास्त्रखण्डनम्॥ ततः कलियुगे प्राप्ते तृतीयो मध्वनामकः। भूरेखादक्षिणे भागे मणिमद्गर्वशान्तये। धिक्कुर्वन् तद् प्रभां सद्योऽवतीर्णोऽत्र द्विजान्वये॥

वायु पुराणमें लिखा है कि—प्रधान वायुका तीन पद्मपुष्पके बराबर दिव्यरूप विराजित है। त्रेतायुगमें तीन कोटि अनुचरोंके अधिनायक, राक्षसकुलका ध्वंश करनेवाले विख्यात हनुमान—वायुदेवके प्रथम अवतार हैं। द्वापर युगके अन्तमें वे ही वायुदेव कुरुवंशमें भीमसेनके रूपमें आविर्भूत हुए थे। इन्होंने दुर्योधन आदि दुष्टोंका वध कर भगवान् श्रीकृष्णकी विशेषरूपसे सेवा की थी। अनन्तर कलियुगके आगमन करने पर वे ही वायुदेव पुनः दक्षिण देशमें 'शिवल्ली' ब्राह्मण-वेशमें मध्वाचार्यके रूपमें तीसरी बार अवतीर्ण हुए और संन्यासीके रूपमें बदरिकाश्रम पधारे थे। उन्होंने कलियुगके कुशास्त्रोंका खण्डन कर कृष्णद्वैपायन वेदव्यासकी सेवा की थी। मणिमान राक्षसका गर्व चूर्ण-विचूर्ण करने तथा उसकी प्रतिभाको म्लान करनेके लिये ही कलियुगमें श्रीमध्वाचार्य नामक वायुके तृतीय अवतारका आविर्भाव हुआ था।

—[सुन्दराविद्याविनोद द्वारा रचित और सुपतिरंजन नाग द्वारा सन् १९३९ में प्रकाशित 'वैष्णवाचार्य श्रीमध्व' नामक पुस्तकके चौथे अध्यायके पृष्ठ २७-२८ से]

स्मरण रहे कि विद्याविनोद महाशयने स्व-रचित उक्त ग्रन्थमें जो कुछ लिखा है, 'अचिन्त्यभेदाभेदवाद' ग्रन्थ में उसके ठीक विपरीत सिद्धान्त लिखे हैं। फिर भी बलदेव प्रभुपादके वचनोंका प्रतिवाद करनेके लिये इस ग्रन्थसे भी प्रमाण संग्रह किये हैं। रहस्यकी बात तो यह है कि उन्होंने अपनेवाद ग्रन्थमें प्रत्येक पृष्ठकी पादटीकामें प्रमाणोंका सविशेष परिचय दिया है, परन्तु इस पुस्तकका नाम गुप्त क्यों रखा?

(ग) अनन्तवासुदेव विद्याभूषण द्वारा सम्पादित; ढाका, नारिंदा पल्लीस्थित श्रीमाध्व गौड़ीय मठसे श्रीनवीनकृष्ण विद्यालङ्कार द्वारा बंगाब्द १३४४ सालमें प्रकाशित श्रीमध्वाचार्य रचित (ब्रह्मसूत्राणाम्) 'अनुभाष्यम् ग्रन्थके 'उपद्घात्' शीर्षक भूमिकासे।

मुनियोंका मतिभ्रम

[डा० राधाकृष्णन द्वारा सम्पादित अँग्रेजी गीता-भाष्यकी समालोचना—पूर्व-प्रकाशित वर्ष ४,संख्या१, पृष्ठ१२ से आगे]

श्रीचैतन्यमहाप्रभुजीने इस समस्याका समाधान किया है कि एक निरक्षर व्यक्ति भी अप्राकृत शब्द-ब्रह्मको समझ सकता है, यदि उसमें भगवानके प्रति शरणागति या प्रपत्ति पूर्णमात्रामें हो। अन्यथा प्रपत्ति-के अभावमें कोई भी—चाहे वह लाख विद्वान् ही क्यों न हो—गीताको समझनेका अधिकारी नहीं है। इस प्रकारसे गीता-पाठ करने पर ही जीव 'स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप' हो जाता है। ब्राह्मणको अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे गीताका पाठ करते देख कर श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने उससे पूछा कि गीताका कौनसा अंश पाठ कर उसके नेत्रोंसे इस प्रकार अश्रु गिर रहे हैं? ब्राह्मणने यथार्थ दीनतासे युक्त होकर उत्तर दिया—'भगवन्! मैं निरा मूर्ख व्यक्ति हूँ। मैं गीता-पाठका अभिनय मात्र करता हूँ। यथार्थमें मैं पढ़ना-लिखना बिलकुल ही नहीं जानता। निरक्षर होने पर भी मैं अपने गुरुकी आज्ञा मान कर गीताजीके अठारहवें अध्यायका नित्य-प्रति पाठ किया करता हूँ। गुरुदेवकी आज्ञाका उल्लंघन न हो जाय इसीलिये जैसे भी हो उनकी आज्ञाका पालन करना अपना नितान्त कर्त्तव्य मानकर पाठ करनेका अभिनय मात्र करता हूँ। असल में मैं गीता-पाठ क्या जानूँ?' इस पर श्रीमहाप्रभुजीने पुनः पूछा—'तब आप गीताका पाठ करते-करते रोते क्यों हैं?' ब्राह्मणने और भी नम्रतासे कहा—'मैं जभी श्रीगीताजीका पाठ करने बैठता हूँ, तभी भगवान् श्रीकृष्णका पार्थ-सारथी रूप मेरे हृदयमें आविर्भूत हो जाता है। भगवान्के उस मनोहर रूपका दर्शन कर मुझे उनकी भक्त-वत्सलताकी कथा स्मरण होने लगती है और उस स्मरणके प्रभावसे ही मेरी आँखों-से बरबस आँसू बहने लगता है।'

बड़े बड़े विद्वान् मायावादी अद्वयज्ञान भगवान् के साथ एकीभूत होकर (उनमें मिल कर) भगवान् होनेके लिये ही व्यस्त रहते हैं। भगवान् अपने भक्तों-के आज्ञाकारी सारथी कैसे हो सकते हैं—इस सम-स्याका समाधान उनके क्षुद्र मस्तिष्क द्वारा संभव नहीं होता। वास्तवमें भगवान्के साथ जीवका जो नित्य-सिद्ध सम्बन्ध होता है, उसके द्वारा और भी बहुत कुछ संभव है। यह बात मायावादियोंको हजार समझाने पर भी वे समझते नहीं। "यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरु। तस्यैते कथिताह्यर्थाः प्रकाशन्ते महा-त्मनः॥' (श्वे० उ०)—इस श्रुतिमंत्रके अनुसार जिसकी भगवान् और गुरुदेव दोनोंमें पराभक्ति है, केवल उन्हींके निकट श्रुतिमंत्र प्रकाशित होते हैं—दूसरोंके निकट नहीं। श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने उस गीता-पाठक ब्राह्मणकी शुद्ध अनुभूति लक्ष्यकर उसका आलिंगन किया और उसे सांत्वना दिया कि उसीका गीता-पाठ यथार्थतः सिद्ध हुआ है। श्रीचैतन्य महाप्रभुकी स्वीकृतिका मूल्य बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों-की कोटि-कोटि उपाधियोंके मूल्यसे अत्यन्त अधिक है—इसे कौन अर्वाचीन स्वीकार न करेगा? इस स्वीकृति द्वारा यह स्पष्ट है कि प्राकृत विद्या-बुद्धि द्वारा गीताका पाठ नहीं होता। बल्कि भक्त आचार्य-पर-म्परासे जो अप्राकृत अनुभूति प्राप्त होता है; वही अनु-भूति ही गीताकी एकमात्र अनुभूति है—अन्यथा वह 'भ्रम एव हि केवलम्' होता है। भगवान अप्राकृत हैं; उनकी वाणी भी अप्राकृत होती है एवं वह अप्राकृत वस्तु-अप्राकृत-गुरुपरम्परा द्वारा ही लभ्य है;—शास्त्रोंका यही तात्पर्य है।

अतः श्रीकृष्ण-नामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः ।
सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः ॥

जब तक जड़ भाव दूर नहीं होता, तबतक अप्राकृत श्रीकृष्णके नाम, धाम, लीला और परिकर-वैशिष्ट्य कदापि इन्द्रियोंकी पकड़में नहीं आते। सेवन्मुख भक्तकी ही रसना द्वारा भगवानका नाम उच्चरित होता है, उनका रूप आँखोंसे दृष्ट होता है तथा उनकी गुण-लीलाकी कथाएँ श्रुत होती हैं।

प्रेमाञ्जनच्छुरित-भक्ति विलोचनेन
सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति ।
यं श्यामसुन्दरमचिन्त्य-गुणस्वरूपं
गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि ॥
(ब्रह्मसंहिता)

जो २४ घंटोंमेंसे २४ घंटे ही भगवान्‌के प्रति अप्राकृत प्रेमयुक्त होकर उनकी सेवामें निमग्न रहते हैं, केवल वे ही भगवान्‌का अप्राकृत श्यामसुन्दर रूप अपने हृदयमें निरन्तर अनुभव कर सकते हैं। इस विषयमें डा० राधाकृष्णन जैसे बड़े-बड़े कर्मवीर और धर्मवीरका प्रवेशाधिकार नहीं है—शास्त्रोंका यह गूढ़ तात्पर्य है। भगवानको तत्त्वतः जाननेका अधिकार एकमात्र भक्तजनोंको ही है—इसमें दूसरोंका अधिकार नहीं है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ॥
(गीता १८।५५)

अतएव राधाकृष्णन जैसे विद्वान व्यक्तिके लिये यह जानना आवश्यक है कि श्रीकृष्णके अन्दर श्रीकृष्ण के अतिरिक्त और कोई नहीं है। उनमें देह-देहीका भेद नहीं है। 'अद्वयज्ञान' श्रीकृष्ण ही Absolute परतत्त्व हैं—गीताका यही तात्पर्य है। इसलिये श्रीकृष्णके अन्दर एक पृथक् तत्त्वका आविष्कार कर डा० राधाकृष्णन स्वयं ही द्वैतवादी (?) हो पड़े हैं। जो तत्त्व प्रत्येक जीवोंके हृदय-हृदयमें व्याप्त और विराजमान है, वह तत्त्व स्वयं श्रीकृष्ण ही हैं—और कोई नहीं; इस विषयमें कृष्ण ही स्वयं प्रमाण हैं। वे गीतामें कहते हैं—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भाव-समन्विताः ॥
(गीता १०।८)

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृत् वेद-विदेव चाहम् ॥
(गीता० १५।१५)

अतएव जो विद्वान् हैं या लिख-पढ़ कर बुद्धिमान् हुए हैं, वे जानते हैं कि समस्त पदार्थोंके मूलजन्मदाता हैं—स्वराटपुरुष भगवान् श्रीकृष्ण। वे श्रीकृष्ण ही एक मात्र Beginningless आदि पुरुष हैं—'पुरुषं शाश्वतं आदि' हैं। जो लोग भावयुक्त हैं अर्थात जिनका जड़ भाव दूर हो गया है तथा अप्राकृत भाव उदय हो गया है, केवल वे ही श्रीकृष्णको 'जन्माद्यस्य यतः'—सूत्रका मूलसूत्र जानते हैं। भावशुद्धि न होनेसे बहु सहस्र सिद्धिप्राप्त मुनिगण भी कृष्णको जाननेमें असमर्थ होते हैं, उनका मतिभ्रम हो जाता है।

'यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ।'
(गीता ७।१)

भगवान् श्रीकृष्णका नाम, रूप, गुण, लीला और परिकर-वैशिष्ट्य सब कुछ एक तत्त्व है—ये सब पृथक्-पृथक् तत्त्व नहीं हैं, उनके सम्पर्कका सब कुछ एक तत्त्व है।

नाम चिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्य रस-विग्रहः ।
पूर्ण शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान्नामनामिनोः ॥

भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं तो चिन्तामणि है ही, उनका सब कुछ चिन्तामणि है; उनके भीतर और बाहरका सब कुछ पूर्ण है, शुद्ध है, नित्य है, मुक्त है और उनसे अभिन्न है। इसे यथार्थ विद्वान् व्यक्ति ही समझनेमें समर्थ हैं। मायाके द्वारा जिनका ज्ञान हर लिया गया है, ऐसे व्यक्ति भगवान्‌को इस प्रकार जाननेमें असमर्थ हैं।

अद्वैतवादी अद्वयज्ञानकी बात समझते नहीं। इसीलिये डा० राधाकृष्णनने अपने कपोलकल्पित

अद्वयज्ञानमें द्वैतज्ञानकी स्थापना की है। यदि डा० राधाकृष्णन यह कहना चाहते हों कि निराकार ब्रह्म ही श्रीकृष्णके अन्दरसे प्रपत्ति अर्थात् शरणागतकी कथा बोल रहे हैं तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि निराकार ब्रह्म भी कथा कहते हैं—बोलते हैं—वे ऐसा स्वीकार करते हैं।

अब यदि निराकार ब्रह्म बोलनेमें समर्थ हैं, तब कथा बोलनेके लिये निराकार ब्रह्मकी जिह्वा भी स्वीकार करनी होगी। अतएव यदि ऐसा स्वीकार किया जाता है, तो उनका निराकारवाद ही ध्वंस हो पड़ता है। जो व्यक्ति बोल सकता है, वह चल-फिर भी सकता है—यह शास्त्र द्वारा प्रमाणित है और जो चल-फिर सकता है, बोल सकता है, वह अवश्य ही इन्द्रियवान् (इन्द्रियसेयुक्त) है। इसलिये उसका भोजन, शयन, अन्य सब कार्य ही सिद्ध हैं। इसलिये वह Beginningless, *Eternal* वस्तु निराकार नहीं है—इस बातको डा० राधाकृष्णन कैसे अस्वीकार करेंगे ?

डाक्टर राधाकृष्णनने अपने Introductory essay के पृष्ठ ६२ में लिखा है—

"When we are emptied of our self (?) God takes possession of us. The obstacles to this God-possessions are own virtues, pride, knowledge, our subtle demands, our unconscious assumptions and prejudices."

अतएव उनकी ही युक्ति द्वारा हम उनको ऐसा कह सकते हैं कि डा० राधाकृष्णनने अपनी अनवधानताके लिये तथा पूर्व-संस्कारोंके वशीभूत होकर ही श्रीकृष्णमें देह-देहीका भेद दर्शन किया है। वे अब भी जड़ अहंकारसे मुक्त नहीं (Emptied of self) हैं। अतएव स्वोपार्जित Virtues, pride, knowledge एवं subtle demands एवं unconscious assumptions and prejudices सब कुछ जैसाका तैसा ही है। वे निश्चय ही मायावाद संस्कारसे परिचालित हुए हैं। इसीलिये वे पारम्पर्य-तत्त्वको समझ नहीं सके हैं। और एक दूसरे दृष्टिकोणसे विचार करने पर हम खूब जोर देकर कह सकते हैं कि मायावादके आदि-पिता श्रीपाद शंकराचार्यने 'जगत् मिथ्या' प्रमाण कर संन्यास, वैराग्य आदि वैशिष्ट्यों पर ही अधिक जोर दिया था। उन्होंने मिथ्याभूत जगत्के ऊपर आधिपत्य स्थापन करनेमें समय नष्ट नहीं किया। यदि शंकराचार्य मायावाद-दर्शनका आधुनिक विपर्यय पाते तो वे अवश्य ही बड़े लज्जित होते। डा० राधाकृष्णन अपने पूर्व-संस्कार द्वारा बरबस परिचालित हो रहे हैं—इसे हम अच्छी तरह समझ सकते हैं। क्योंकि स्वयं ही अपने introductory essay (Page 25) में लिखा है—

"The emphasis of the Gita is on the supreme as the PERSONAL GOD who creates the perceptible world by His Nature (Prakriti). He resides within the heart of every being. He is the enjoyer and lord of sacrifices. He stirs our heart to devotion and grants our prayers. He is the source and restrainer of values. *He entres into personal relations with us in worship and prayer.*"

श्रीमद्भागवतका ऐसा तात्पर्य स्वीकार करके भी डा० राधाकृष्णनने भगवान श्रीकृष्णमें देह-देहीका भेद माना है, यह उनके पूर्व संस्कार और जड़ा विद्या का ही फल है। इसके अतिरिक्त और कहा ही क्या जा सकता है ? Supreme Absolute अद्वयज्ञान तत्त्वमें देह-देहीका भेद मानना—यह कैसा अद्वैतवाद है ? क्या हम इसका उत्तर डा० राधाकृष्णनजीसे पा सकते हैं ? इच्छा-द्वेष द्वारा प्रभावित होने पर स्वर्गमें आना पड़ता है; इसलिये उस इच्छा-द्वेष रूप प्रवेश-पथमें जो Cult of pride and prejudice उत्पन्न होती है उसीका नाम माया है। "कृष्ण-बहिर्मुख हञा भोगवांछा करे। निकटस्थ माया तारे झापटिया धरे॥" जब भगवान् ही स्वयं समस्त शरीरोंमें विराजमान क्षेत्रज्ञ हैं, तब उनके

शरीरमें भला दूसरा कौन बैठेगा ? भगवानने गीतामें भगवानके व्यक्तित्वके विषयमें जिन-जिन वैशिष्ट्यों को स्वयं ही स्वीकार किया है, डा० राधाकृष्णनने अपनी जड़ पाण्डित्य प्रतिभा द्वारा उसे खण्डन करने का व्यर्थ प्रयास किया है। इस प्रकारकी कुचेष्टा द्वारा जगत्में विद्या-प्रसारके बदले वे अविद्याका ही प्रचार कर रहे हैं। उनके जैसे महान् व्यक्तिके लिये ऐसा करना उचित नहीं हुआ है।

ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—ये तीनों ही अद्वयज्ञान परतत्त्व हैं—यह बात डा० राधाकृष्णन नहीं जानते हैं—कहनेसे हमलोग ही हास्यास्पद होंगे। इसलिये भगवान् जब आते हैं, तब वे किस प्रकार मायिक हो जाते हैं, इसे हम समझ नहीं पाते हैं। गीताजीमें स्पष्ट ही लिखा है कि भगवान आत्ममाया द्वारा आविर्भूत होते हैं और अपनी प्रकृति या अपने स्वाभावमें ही अवतीर्ण होते हैं। और क्योंकि स्वयं जैसे हैं, वैसे ही (आकार और स्वाभाव आदिमें) आते हैं, क्योंकि उनमें देह-देहीका भेद नहीं होता। इसके अतिरिक्त यह भी प्रांजल भाषामें लिखा गया है कि भगवानका जन्म और उनके कर्म सब कुछ जड़से अतीत होता है। तथा वे शाश्वत, आदि पुरुष, परब्रह्म और परम पवित्र हैं—ऐसा भी स्पष्ट ही लिखा हुआ है। जीव-'ब्रह्म' मायाद्वारा आच्छादित होता है—इसे हम भी स्वीकार करते हैं; किन्तु परम-ब्रह्म यदि माया द्वारा आच्छादित हो जाय, तो माया ही परब्रह्मसे परतत्त्व हो पड़ती है ?

(क्रमशः)

—श्रीअभयचरणारविन्द भक्तिवेदान्त

एडिटर, बैक-टू-गौडहेड

पुरुषोत्तम-मासका महात्म्य और उसके कर्त्तव्य

परिचय

आगामी आषाढ़ कृष्ण अमावस्याके बाद अधिक श्रावण आरम्भ होगा। 'अधिक मास' को 'पुरुषोत्तम मास' और 'मलमास' भी कहते हैं। चान्द्र मास और सौर मासमें मेल रखनेके लिये ३२ महीनोंमें एकबार एक अधिक मासको बाद देना होता है। इसलिये इस बचे हुए मासको 'अधिक मास' कहते हैं।

स्मार्त्त शास्त्रोंमें अधिक मासकी बड़ी निंदा है। इन शास्त्रोंमें अधिक मासको 'मलीन मास' कहा गया है तथा समस्त प्रकारके सत्कर्मोंके लिये अनुपयुक्त बतलाया गया है।

किन्तु स्मार्त्त शास्त्रोंमें इस मासकी जैसे निंदा है, परमार्थ शास्त्रोंमें इसकी बड़ी महिमा बतलायी गयी है। इनमें अधिक मासको 'पुरुषोत्तम मास' कहा गया है तथा इसे समस्त प्रकारके परमार्थ कार्योंके अनुष्ठान के लिये सर्वोत्तम मास स्थिर किया गया है। जीवन अनित्य है। जीवनका कोई भी अंश व्यर्थ गँवाना उचित नहीं। हरि-भजनमें सदा निरत रहना ही जीवका कर्त्तव्य है। इसलिये प्रत्येक तीसरे वर्षमें जो अधिक मास होता है, वह भी हरि-भजनके लिये उपयोगी हो—परमार्थ शास्त्रोंका यह गूढ़ उद्देश्य है। जहाँ कर्मियोंने अधिक मासको 'मलमासकी' संज्ञा देकर उसे समस्त सत्कर्मोंके लिये अनुपयुक्त कहा है, वहाँ परमार्थ शास्त्रोंने जीवोंके कल्याणके लिये उसे ही भक्तजनोंके लिये विशेष उपयोगी बतलाया है। इसीलिये इन शास्त्रोंमें अधिक मासको पुरुषोत्तम मास कहा गया है।

पुरुषोत्तम मास सम्बन्धी पौराणिक कथाएँ

(१) नारदीय पुराणके अनुसार एक समय दूसरे-दूसरे मासोंका आधिपत्य और लोगोंके द्वारा अपनी उपेक्षा देखकर 'अधिक मास' बड़े दुःखित हुए और वैकुण्ठपति श्रीनारायणके चरणोंमें उपस्थित होकर अपने दुःखका कारण निवेदन किये। श्रीवैकुण्ठनाथ

को उसपर बड़ी दया आयी। वे उसे अपने साथ लेकर गोलोकमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके पास पहुँचे और 'अधिक मासका' दुःख दूर करने के लिये प्रार्थना किये। उनकी प्रार्थनाको सुनकर श्रीकृष्णने नारायण से मुसकरा कर कहा—रमापति ! जैसे मैं जगत्में पुरुषोत्तमके नामसे विख्यात हूँ, उसी प्रकार यह अधिक मास भी संसारमें 'पुरुषोत्तम मास' के नाम से प्रसिद्ध होगा। मुझमें जो सब गुण हैं, मैंने उन समस्त गुणोंको इस मासमें स्थापित कर दिये। यह मेरी सादृश्यताको प्राप्त करके अन्य सब मासों का अधिपति होगा—जगत्पूज्य और जगत्का वन्दनीय होगा। यह मास निष्काम होगा। जो व्यक्ति निष्काम होकर अथवा समस्त प्रकारकी कामनाओंसे युक्त होकर भी इस मासमें मेरा पूजन करेगा, वह समस्त प्रकारके सुखोंको भोगता हुआ अन्तमें मुझको ही प्राप्त होगा।

(२) द्रौपदी पूर्व जन्ममें 'मेधा' ऋषिकी कन्या थी। दुर्वासा ऋषिके निकट पुरुषोत्तम मासका माहात्म्य सुनकर भी उन्होंने इस मासकी अवज्ञा की थी। इस लिये अगले जन्ममें इनको इतना कष्ट भोगना पड़ा था। श्रीकृष्णके उपदेशसे द्रौपदीने अपने पंच पतियों के साथ पुरुषोत्तम मास व्रतका आचरण कर वनवास आदि दुःखोंसे मुक्त हुई थी।

(३) दृढ़धन्वा राजाके वृतान्त और उनके पूर्व जन्मके वृतान्तमें पुरुषोत्तम-मास-व्रतकी बड़ी महिमा बतलायी गयी है। दृढ़धन्वाके प्रश्नोंके उत्तरमें महर्षि वाल्मिकिने पुरुषोत्तम मासकी महिमा और उसके पालनकी विधियोंका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

विधि

पुरुषोत्तम मासमें पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णका पूजन ही प्रधान विधि है—

पुरुषोत्तम-मासस्य दैवतं पुरुषोत्तमः।
तस्मात् सम्पूजयेद्भक्त्या श्रद्धया पुरुषोत्तमम् ॥

—श्रीकृष्ण ही पुरुषोत्तम हैं। ये पुरुषोत्तम कृष्ण ही पुरुषोत्तम मासके अधिदेवता हैं। इसलिये इस मासमें प्रतिदिन श्रद्धाभक्तिपूर्वक पुरुषोत्तम श्रीकृष्णका षोड़शोपचारसे पूजन करना कर्त्तव्य है।

श्रीश्रीराधाकृष्णकी युगल उपासना ही कर्त्तव्य है—

आगच्छ देव देवेश श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम।
राधया सहितश्चात्र गृहाण पूजनं मम ॥

प्रातःकाल सूर्योदयसे पहले उठकर शौचादिसे निवृत्त होकर स्नान करना चाहिए। गृहका स्नान साधारण, सरोवर और कुएँ आदिका स्नान मध्यम और समुद्र तथा नदीका स्नान उत्तम माना गया है। स्नानके पश्चात् गोपीचन्दनसे ऊर्द्ध्वपुंड्र तिलक और शंख-चक्र आदि धारण करना चाहिए। अनन्तर अधिकारके अनुसार संध्या-आह्निक, पूजा-पाठ और भगवन्नाम करना चाहिए। इस अधिक मासमें श्रीमद्भागवत्का पाठ महान पुण्यदायक होता है। श्रीशालग्राम भगवान्का अर्चन करना कर्त्तव्य है। भगवान् पुरुषोत्तमकी प्रसन्नताके लिये प्रदीप-दान करना चाहिए। सामर्थ्यके अनुसार घी का अथवा तिलके तेलका प्रदीप देना विधि है।

कृपणताका त्यागकर योग्यपात्रको दान देना चाहिए। धन रहते हुए भी दान आदिका न देना—रौरव नरकमें गमनका कारण होता है। जमीन पर सोना, पत्तलमें भोजन करना, शामको एक बार भोजन करना उत्तम है।

व्रतीको हविष्यान्न भोजन करना चाहिए। गेहूँ, चावल, सफेद धान, मूँग, जौ, तिल, मटर, बथुआ, शहतूत, ककड़ी, केला, कन्द, कटहल, आम, आँवला, अदरक, घी, हर्रे, पीपल, जीरा, सौंठ, सुपारी, सेंदानमक, इमली, ईखसे बनी चनी, मिश्री और बिना तेलसे बने व्यंजन—ये सब हविष्यान्न हैं। हविष्यान्न भोजन और उपवास दोनोंका एक ही प्रकारका फल होता है।

पुरुषोत्तम मासमें 'गोवर्द्धधरं'—मन्त्रका प्रतिदिन भक्तिके साथ (श्रीगुरुदेवसे प्राप्तकर) जप करनेसे

भगवत्प्राप्ति होती है। मन्त्र जपते समय नवीन मेघ-श्याम द्विभूज मुरलीधर पीताम्बरधारी श्रीराधाजीके साथ श्रीकृष्णका ध्यान करना चाहिए।

निषेध

जीव-जन्तुओंके अंगसे प्रस्तुत किया हुआ चूर्ण, जंबीरी नीबू, मसूर, दूषित अन्न; बकरी, गाय और भैंसके दूधके अतिरिक्त अन्य दूध, मिट्टीसे तैयार किया नमक, ताँबेके वर्त्तनमें गायका दूध, चमड़ेमें रखा हुआ पानी और केवल अपने लिये ही पकाया हुआ अन्न—यह सब आमिष माना गया है। पुरुषोत्तम मासमें इनका वर्जन करना चाहिए। रजस्वला स्त्री और धर्मभ्रष्ट संस्कारहीन लोगोंसे दूर रहना चाहिए। प्याज, लहसुन, नगरमोथा, छत्री, गाजर आदि का त्याग करना चाहिए।

अधिकारके अनुसार विशेष कर्त्तव्य

अधिकारके अनुसार विधि-निषेधोंकी व्यवस्था दी गयी है। परमार्थी तीन प्रकारके होते हैं—स्वनिष्ठ, परिनिष्ठित और निरपेक्ष। स्वनिष्ठ परमार्थी पूर्वोक्त विधि-निषेधोंका पालन करेंगे। परिनिष्ठित भक्तजन अपने गुरुदेवसे प्राप्त कार्त्तिक-व्रतके नियमोंके अनुसार पुरुषोत्तम-व्रतका भी पालन करेंगे। निरपेक्ष-परमार्थी अर्थात् अनन्य भक्तजन महाप्रसादका सेवन करते हुए श्रीकृष्णके नाम आदिका कीर्त्तन और स्मरण करेंगे। इन दोनों अंगोंके अतिरिक्त वे अन्य नियमोंमें अधिक व्यस्त न होंगे।

भगवान् श्रीकृष्ण ही पुरुषोत्तम मासके अधिपति हैं। अतः यह अधिक मास भक्तोंको बड़ा प्रिय है। इसलिये श्रद्धा और भक्ति पूर्वक इस मासमें श्रीराधिकाजीके साथ श्रीकृष्णकी सेवा करना ही सबका परम कर्त्तव्य है। इससे समस्त प्रकारके मनोरथ सिद्ध होते हैं।

व्रतकी समाप्ति

व्रत समाप्त होने पर सामर्थ्यके अनुसार भगवान को क्षीर आदि विविध प्रकारका भोग लगाकर ब्राह्मण और वैष्णवोंको प्रेमपूर्वक भोजन करावें। तत्पश्चात् बन्धु-बन्धवोंके साथ महाप्रसादकी सेवाकर नियमपूर्वक व्रतके नियमोंका परित्याग करे।

शरणागति

सिद्धदेहमें—कृष्ण-भजनका उद्दीपन

[ॐ विष्णुपाद श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर]

राधाकुण्ड-तट-कुञ्जकुटीर।
गोवर्द्धनपर्वत, जामुन तीर॥
कुसुमसरोवर, मानसगङ्गा।
कलिन्दनन्दिनी, विपुलतरंगा॥
वंशीवट, गोकुल, धीरसमीर।
वृन्दावन-तरुलतिका-वानीर॥
खग मृगकुल, मलय-वातास।
मयूर, भ्रमर, मुरली, विलास॥
वेणु, शृङ्ग, पदचिह्न, मेघमाला।
वसन्त, शशाङ्क, शंख, करताला॥
युगल विलासमें अनुकूल जानि।
लीला-विलास उद्दीपक मानि॥
ए सब छोड़त कहीं नहीं जाऊँ।
ए सब छोड़त परान हाराऊँ॥
भकतिविनोद कहे, सुन कान।
तुया उद्दीपक हमरो परान॥

श्रीश्रीभक्तिविनोद ठाकुरके तिरोभाव और श्रीश्रीरथयात्राका महोत्सव

श्रीश्रीभक्तिविनोद ठाकुरका तिरोभाव महोत्सव

श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके अधीनस्थ समस्त मठों और आश्रमोंमें विगत २ आषाढ़, १७ जून, मङ्गलवारको ॐविष्णुपाद श्रीसच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुरका तिरोभाव महोत्सव खूब धूम-धामसे मनाया गया है। पाठ और कीर्त्तनके साथ-साथ बड़े बड़े विद्वानों और अनुभवी महात्माओंके भाषण द्वारा श्रीठाकुरके अतिमर्त्य चरित्रके ऊपर विशद प्रकाश डाला गया। अंतमें सबको महाप्रसाद वितरण किया गया।

श्रीश्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, मथुरामें—

पूज्यपाद त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद् भक्तिकुशल नारसिंह महाराजके सभापतित्वमें एक सभाका आयोजन हुआ था,जिसमें सभापति महोदय और श्रीभागवत-पत्रिकाके सम्पादक महोदयने श्रीश्रीभक्तिविनोद ठाकुरके जीवन चरित्र और उनकी शिक्षाओंके सम्बन्धमें भाषण दिये।

श्रीश्री उद्धारण गौड़ीय मठ, चुँचुड़ामें—

यह समारोह यहाँ पर श्रीश्रीआचार्यदेवकी अध्यक्षतामें विराट रूपसे मनाया जाता है। किन्तु इस वर्ष आसाम प्रदेशमें प्रचार कार्यमें व्यस्त रहनेके कारण वे निर्द्धारित समय पर पधार न सके। उनकी अनुपस्थितिको सभी बड़े जोरोंसे अनुभव कर रहे थे। महोत्सवकी कार्यवाही चल रही थी—किन्तु दूल्हेके बिना बरात जैसी। सभा-मण्डप फीका सा लग रहा था। इसी बीच वे अकस्मात आसामसे (वायुयान द्वारा) आ पधारे। सबका हृदय आनन्दसे भर गया। दूर दूरके भक्तजन उनके दर्शनों और उनके उपदेशोंको श्रवण करनेके लिये वहाँ एकत्रित हुए थे। अत्यन्त थके होने पर भी श्रीश्रीआचार्य देवने अपने गम्भीर तत्त्वपूर्ण और दार्शनिक भाषणमें श्रील ठाकुरके अप्राकृत जीवन चरित्र और उनके अप्राकृत दान-वैशिष्ट्य पर गहरा प्रकाश डाला। श्रीश्रीमहाप्रसाद वितरणके पश्चात् उत्सव समाप्त हुआ।

श्रीश्री रथयात्रा (चुँचुड़ामें)

श्रीश्रीभक्तिविनोद ठाकुरके तिरोभाव महोत्सवके दूसरे दिन ३ आषाढ़को विराट नगरसंकीर्त्तन और श्रीश्री-गुण्डिचा मन्दिरका मर्ज्जन हुआ। श्रीमन्महाप्रभुजीने इस लीलाके द्वारा इस दिन प्रत्येक साधन भक्तको अपने हृदय-सिंहासनसे कृष्ण-सेवाके अतिरिक्त दूसरी-दूसरी समस्त प्रकारकी कामना-वासना अर्थात् अन्याभिलाष ज्ञान और कर्म आदि रूप धूल और कंकड़-राशिको झाड़-बुहार और धो-धाकर बिलकुल साफ-सुथरा—निर्मल करनेकी शिक्षा दी है। जिससे उस पवित्र हृदय-सिंहासन पर श्रीश्रीराधा-गोविन्दजी विराजमान हो सकें।

४ आषाढ़को सवेरे श्रीश्रीजगन्नाथ देवको सुसज्जित बृहत् रथके ऊपर पधराया गया। 'श्रीश्री-जगन्नाथ देवकी जय'—की गगनभेदी जयध्वनि और और विराट संकीर्त्तनके बीच नगरके बड़े रास्ते होता हुआ श्रीश्रीजगन्नाथ देवका रथ कभी धीरे-धीरे, कभी तेजीसे और कभी-कभी रुकता हुआ गुण्डिचा मंदिर (श्रीश्यामसुन्दर-मन्दिर) में उपस्थित हुआ। वहाँ भक्तजनोंने मांगलिक विधियोंके अनुसार श्रीश्रीजगन्नाथ देवको रथसे उतार कर श्रीश्रीमन्दिरमें पधराया। ठीक इसी प्रकार १२ आषाढ़ पूर्णयात्राके दिन श्रीश्री-जगन्नाथ देवको पुनः श्रीउद्धारण गौड़ीय मठमें पधराया गया। बीचमें ८ आषाढ़को हेरा पंचमीका उत्सव भी खूब धूम-धामसे मनाया गया। इस दिन लक्ष्मीजी भगवान् जगन्नाथजीको खोजनेके लिये खूब

सज-धज कर अपने सखियोंके साथ बाहर निकलती हैं। गुण्डिचा मन्दिरमें (ऐश्वर्यभाव रहित स्वच्छन्द विहार-स्थलीमें) गोपियोंके साथ कृष्णको देख कर बड़ी क्रोधित होनेका भाव दिखलाती हैं। वे कृष्णको अपने यहाँ रोक रखनेके लिये कृष्णकी प्रियतमा गोपियोंको धमकाती और बाँध लेती हैं। इस लीलाका बड़ा ही गम्भीर और अत्यन्त उन्नत भाव है, जिसे सद्गुरु पदाश्रय और विशुद्ध भजन-प्रणाली अङ्गीकार किये बिना समझना कठिन ही नहीं, बिलकुल असंभव है। श्रीचैतन्य महाप्रभुजी जगतमें अनर्पित उन्नत-उज्जल कृष्ण-प्रेमको वितरण करनेके लिये पधारे थे। उन्होंने इस अपूर्व दान-सम्पत्तिको विशेष रूपसे श्रीश्री-जगन्नाथ देवकी रथयात्राके माध्यमसे सम्पूर्ण जगतमें वितरण किया था। श्रीकविराज गोस्वामीने रथयात्रा-के प्रसङ्गमें श्रीचैतन्य महाप्रभुके अप्राकृत मधुर भावों-का चमत्कारपूर्ण और मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। उन भावोंको सुयोग्य अधिकारी भक्तोंमें प्रचार करना ही श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति द्वारा श्रीश्रीरथ-यात्रा-उत्सव-पालनका महान उद्देश्य है।

इस महोत्सवके समय त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्ति वेदान्त त्रिविक्रम महाराज आसाममें और त्रिदण्डि स्वामी श्रीमद्भक्ति वेदान्त वामन महाराज श्रीसिद्ध-वाटी गौड़ीय मठ, मिधावाड़ी (वर्द्धमान) में प्रचार कार्यमें व्यस्त रहनेके कारण श्रीश्रीआचार्य देवको अकेले ही पाठ और भाषण आदि सब कुछ कहना पड़ा है। अतः इस वर्ष जहाँ आचार्य देवको अधिक परिश्रम करना पड़ा है, वहाँ सर्व साधारणको श्रीश्री-आचार्य देवकी अमूल्य वाणियोंका अधिक श्रवणका सुयोग भी प्राप्त हुआ है।

इस प्रकार १३ आषाढ़को उत्सवकी समाप्ति पर सर्व-साधारणको महाप्रसाद वितरण किया गया।

श्रीश्री जयन्ती

शास्त्रोंमें 'जयन्ती'-शब्दका जहाँ कहीं भी प्रयोग हुआ है, उससे श्रीकृष्णके पूत आविर्भावको ही लक्ष्य किया गया है। आजकल तथाकथित उच्चकोटिके मनीषी और वणिकवृन्द ऐश्वर्यादि विषयोंमें भगवान्के समकक्ष होनेके लिये जी जानसे लग पड़े हैं और इस प्रतिद्वन्द्वितामें ये लोग हिरण्यकशिपु,रावण और कंस आदि की तरह एक मात्र भगवान्के ही व्यवहार्य वैशिष्ट्योंका स्वयं आत्मसात् करकेका दंभ प्रकाश करते हैं। ये लोग अपनी-अपनी जन्म-तिथियोंके उप-लक्ष्यमें उत्सव (टी-पार्टी) आदिकी व्यवस्था कर उस समारोहका नाम 'जयन्ती' देते हैं। इतना ही नहीं, उनकी मृत्युके बाद भी उनके दलके लोग उसे निर्बाध गतिसे पालन कर सकें, इसकी भी वे व्यवस्था करते हैं। इस प्रकार आज मानव भगवान्की अन्यतम विशिष्ट सम्पत्ति—'जयन्ती' को लूटनेके लिये कटिबद्ध है। 'मेरे गुट्टमें कुछ लोग योग देनेसे 'जयन्ती' पालित होगी'—ऐसी व्यवस्था भगवत विरोधी आच-रण है। मैं ही सब कुछ भोग करूँगा, भगवानके लिये निजस्व मान कर आदरपूर्वक कुछ भी स्वतन्त्र अर्थात् अलग रखनेकी आवश्यकता नहीं है—इसीका नाम आसुर भाव है। इसीको कहते हैं-'असुरे लुटिया खाय कृष्णेर संसार।' प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्तिको ऐसे भगवदपराधसे बचना चाहिए। महापुरुषोंकी स्मृति रक्षाके लिये सामुहिक रूपमें वार्षिक-तिथि---स्म-रणोत्सव पालन करनेकी नितांत आवश्यकता है, इसमें तिलमात्र भी सन्देह नहीं; परन्तु उसके लिये भगवद्वैशिष्ट्योंका उल्लंघन करना सर्वथा अनु-चित है।

आज भी दक्षिण भारतमें 'जयन्ती'-शब्दका प्रयोग केवल श्रीकृष्णजन्माष्टमीके लिये ही होता है।

वहाँके सभीलोग 'जयन्ती'-शब्दसे श्रीश्री जन्माष्टमी को ही समझते हैं। परन्तु हमारा दुर्भाग्य क्रमशः बढ़ता जा रहा है। कुछ ही दिनोंके बाद यह देखा जायगा—'अमुक नेताकी जन्माष्टमी मनायी जा रही है,' क्योंकि वे अष्टमी तिथिको धन्य करनेके लिये उसमें जन्म लेकर पृथ्वीको भी धन्य कर रहे हैं (?) हाय महामाये! देख रहा हूँ, तुम न जाने कितने रूपमें भगवद्विमुख जीवोंको निगल रही हो, इसका कोई अन्त नहीं। तुम उन्हें इतना विमुख बना देती हो कि वे दुर्भाग्यकी चरम छोर पर पहुँच कर स्वयं उसकी उपलब्धि कर सके तथा उन्मुखताके लिये उपयुक्त हो सकें। तुम उन्हें क्लेशरूप अग्निमें सोनेकी तरह तपा कर शुद्ध करती हो। अर्थात् उन्हें पुनः भगवत्-सेवामें नियुक्त करती हो। करुणावरुणालय भगवान्का तुम्हारे प्रति ऐसा ही आदेश है। भगवदादेश रूप अपने इस कर्त्तव्यका पालन करनेके लिये तुम जीवको कभी स्वर्गमें ले जाती हो और वहाँ उन्हें यह दिखलाती हो कि स्वर्गीय-सुख—जिनके लिये उन्होंने सब कुछ किया—नित्य नहीं है। क्योंकि 'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥' (गीता० ९।२१), अर्थात् भोगद्वारा पुण्य क्षय प्राप्त होने पर पुनः कर्मक्षेत्रमें लौटना पड़ता है; इस प्रकार भगवान्को भूलनेसे जीव केवल आवागमनके चक्कर में ही फँसा रहता है। दूसरी तरफ अत्यन्त पापासक्त जीवको नरक भोग करा कर शोधित करती हो। तुम्हारी महिमा अपार है। जीवका संस्कार करनेके लिये भगवच्छक्ति तुम्हारा कारध्यक्षके रूपमें समस्त ब्रह्माण्ड पर दुर्लंघ्य अधिकार है। मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ। देवि! मुझे उपयुक्त दण्ड देकर शीघ्र-से-शीघ्र भगवत् और भागवत सेवाका सुयोग प्रदान करो। जिससे मैं अपनी 'जयन्ती' पालन करवानेके लिये लालायित न होऊँ। देवि! मेरी रक्षा करो, जिससे विषयमें चलकर मैं भगवत्सेवासे और भी अधिक विमुख न हो जाऊँ।

श्रीमद्भागवत दशम स्कन्धके तृतीय अध्यायमें श्रीभगवदाविर्भावका बड़ा ही मनोरम वर्णन है। श्रीशुकदेव गोस्वामी सबसे पहले उस परम पवित्र और सुहावने समयका वर्णन करते हुए कहते हैं—

अथ सर्वगुणोपेतः कालः परमशोभनः।
यर्ह्येवाजनजन्मर्क्षं शान्तर्क्षग्रहतारकम्॥

[अजन अर्थात् जन्मरहित भगवान्के आविर्भाव के उपयोगी समस्त शुभ गुणोंसे युक्त अत्यन्त सुहावना समय उपस्थित हुआ। उस समय नक्षत्रपुञ्ज विशेष (रोहिणी या जयन्ती) था। आकाशके सभी नक्षत्र, ग्रह और तारे शान्त—सौम्य हो रहे थे।] यहाँ परस्पर विरुद्ध भाव युक्त उक्ति देखी जाती है—'अजन जन्म'। इसका तात्पर्य क्या है? भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें इस समस्याका समाधान करते हुए कह रहे हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥६॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥७॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥८॥
(गीता ४।६-८)

श्रीधर स्वामी चरणने ६ वें श्लोककी सुबोधिनी टीकामें स्वयं उक्त प्रश्नको उठा कर उसका उत्तर दिया है। जैसे—"ननु अनादेः तव कुतो जन्म? अविनाशिनश्च तव कथं पुनः पुनर्जन्म येन 'बहूनि मे व्यतीतानि' (गीता ४।५) इत्युच्यते, एवं ईश्वरस्य तव पुण्यपापा विहीनस्य कथं;जीवयत् जन्म? इत्यत आह सत्यमेव,तथापि अहम् अजः जंमशून्यः अपि सन् अव्ययात्मा तथा अनश्वर स्वभावः अपि सन् भूतानां ब्राह्मादि स्तम्ब पर्यन्तानाम् ईश्वरः कर्मपारतन्त्र्यरहितः अपि सन् (ननु तत्रापि षोडशकलात्मकलिङ्ग देह शून्यस्य चतव कुतः जन्म इत्यत उक्तं) स्वशुद्धसत्त्वादिकां प्राकृतिम् अधिष्ठाय स्वीकृत्य आत्म-मायया स्वमायया संभवामि विशुद्धोर्जित सत्त्वमूर्त्या स्वेच्छया अवतरामि इत्यर्थः।' अर्थात् प्रश्न—भगवान्! आप तो अनादि हैं, फिर आपका जन्म कैसे संभव है। आपने कहा है कि—मेरे अनेक जन्म बीत चुके हैं।' और पाप-पुण्य से

से रहित हैं, तब जीवोंकी तरह आपका जन्म किस प्रकार हुआ ? भगवान उत्तर देते हैं—ठीक ही कह रहे हो, फिर भी मैं जन्म-शून्य, अनश्वर स्वभाव युक्त तथा ब्रह्मा आदिसे लेकर कीट पतंग तक समस्त भूतोंका कर्म परतंत्र-हीन ईश्वर होकर भी (पुनः प्रश्न फिर षोडशकलात्मकलिंग देहशून्य आपका जन्म कैसे संभव है—इसके उत्तरमें कह रहे हैं) अपनी शुद्ध सत्त्वात्मिका प्रकृतिको अंगीकार कर आत्ममाया अर्थात् विशुद्ध निर्मल सत्त्वमूर्त्तिके सहित स्वेच्छा पूर्वक अवतीर्ण होता हूँ ।' प्रसिद्ध टीकाकार पूज्यपाद श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने उक्त व्याख्याको और भी स्पष्ट करके लिखा है—आप जो देव, मनुष्य, तिर्यगादि भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म लेते हैं, वह कोई विचित्र बात नहीं है । क्योंकि जीव भी वास्तवमें अज होकर भी स्थूल शरीर नष्ट होने पर पुनः जन्म ग्रहण करता है । इसके उत्तरमें भगवान्‌का कथन यह है कि मेरा शरीर नश्वर नहीं—नित्य है । जीव स्थूल और लिंग शरीरसे भिन्न स्वस्वरूपसे जन्मरहित है । अविद्या द्वारा प्राकृत शरीरके साथ सम्बन्ध ही उसका जन्म है । परन्तु ईश्वर होनेके कारण स्वदेहाभिन्न मेरा अजत्व और जन्मत्व—ये दोनों स्वरूप सिद्ध है । यह परस्पर विरुद्ध व्यापार होनेके कारण विचित्र है तथा तर्क और मानव बुद्धिसे अतीत है । अतएव पुण्य-पापादि युक्त जीवके सद्-असद् योनियोंमें जन्म लेनेकी तरह मेरे जन्मकी आशंका नहीं है । 'अपनी प्रकृतिको अङ्गीकार कर'—यहाँ पर 'प्रकृति' शब्दसे यदि बहिरङ्गा मायाशक्तिको लिया जाय, तो अधिष्ठाता परमेश्वर उसके द्वारा जगद्रूप होते हैं, इससे किसी विशेषत्वकी उपलब्धि नहीं होती ! 'स्वरूप' और 'स्वभाव'—शब्दकोषके इन अर्थोंमेंसे 'प्रकृति'—शब्दसे 'स्वरूप' का ही लक्ष्य किया गया है । "पुराणोक्त—देह-देहादि विभागश्चनेश्वरे विद्यते क्वचित्" और श्रीचैतन्यचरितामृतके "देह-देही नाम नामीर कृष्णे नाहि भेद । जीवेर धर्म-नाम-देह स्वरूप विभेद ॥"—इस उपदेशसे यह जान पाते हैं कि जीवमें जैसे देह और देहीका भेद है, भगवान्‌में वैसे देह-देहीका कोई भेद नहीं । जीवका चिन्मय स्वरूप अज होने पर भी उसकी देह अविनाशी अर्थात् नित्य नहीं होनेके कारण पुनः पुनः जन्म और मृत्युको वरण करती है। ईश्वरकी देह अविनश्वर होनेके कारण नित्य है । अच्छी बात है, ऐसा मान लिया । परन्तु ऐसा होने पर भगवान् गीता ४।७ श्लोकमें 'तदात्मानं सृजाम्यहम् ?'—ऐसा क्यों कहा है ? इस प्रश्नके उत्तरमें विश्वनाथ चक्रवर्त्तीचरण कहते हैं,—'सृजामि'—सृष्टि करता हूँ—का तात्पर्य यह है कि नित्य सिद्ध देहको सृष्टि करनेकी तरह (जन्मलेनेकी तरह) दिखलाता हूँ । अर्थात् असुर मोहिनी माया द्वारा सृष्ट पदार्थोंकी तरह दिखलाया करता हूँ ।

अब यह देखा गया कि भगवान् अज अर्थात् जन्म रहित है और वे अपनी इच्छासे अपनी चिच्छक्तिको आश्रय कर अपना नित्य शरीर प्रकट करते हैं । सूक्ष्म और स्थूल देहोंके द्वारा उनके आवृत होनेकी संभावना नहीं है । अतएव श्रीमद्भागवतके 'अजन जन्म' की उक्तिमें कोई विरोधकी आशंका नहीं । सुन्दर सुहावने समयके वर्णनके अनन्तर और भी देख पाते हैं कि उस समय दिशाएँ निर्मल—प्रसन्न थीं, निर्मल आकाशमें तारे छिटक रहे थे, नगर, ग्राम और अहीरोंकी बस्तियाँ मङ्गलमय हो रही थीं, नदियोंका जल निर्मल हो रहा था । सरोवरोंमें कमल खिल रहे थे । वनोंमें रंग बिरंगे पुष्पोंसे लदे हुए वृक्षोंकी कतारें बड़ी मनोरम लगती थीं । उनमें कहीं-कहीं पक्षी चहक रहे थे और कहीं भौंरे गुनगुना रहे थे । शीतल-मन्द-सुगन्ध वायु अपने स्पर्शसे लोगोंको सुख प्रदान करती हुई बह रही थी । सन्त पुरुषोंका मन सहसा अत्यन्त प्रसन्नतासे भर गया । भगवान्‌के आविर्भावके समय स्वर्गमें देवताओंकी दुन्दुभियाँ स्वयं बज उठीं । किन्नर और गन्धर्व गाने लगे तथा सिद्ध और चारण स्तुति करने लगे । अप्सराएँ और विद्याधरियाँ नृत्य करने लगीं । स्वर्गसे देवता और मुनिजन आनन्दसे भर कर पुष्पोंकी वर्षा करने लगे । (क्रमशः)

—श्रीहरिपद विद्यारत्न, एम० ए०, बी-एल्०

जैव-धर्म

[पूर्व प्रकाशित वर्ष ४, संख्या १, पृष्ठ २४ से आगे]

व्रजनाथ—'प्रभो ! तटस्थ स्वभावस्थित सन्धि-स्थानसे कुछ जीव क्यों मायिक जगत्‌में चले गये और कुछ जीव चित्‌जगत्‌में क्यों चले गये ?

बाबाजी—'कृष्ण-स्वरूपके लक्षण—समूह जीव-स्वरूपमें भी अणु मात्रामें पाये जाते हैं। कृष्णकी स्वेच्छामयताका अणु लक्षण अर्थात् स्वतन्त्र वासना जीवोंमें नित्य सिद्ध है। उस स्वतन्त्र वासनाका सद् व्यवहार करनेसे जीवका कृष्ण-सान्मुख्य ठीक रहता है। किन्तु उसका असद् व्यवहार करनेसे जीव कृष्णसे विमुख हो पड़ता है। यही विमुखता जीव-हृदयमें मायाको भोग करनेकी कामना पैदा कर देती है। फलस्वरूप जिस समय जीव मायाको भोग करनेकी आकांक्षा करता है, उसी समय उसमें यह तुच्छ अहंकार उपस्थित हो जाता है कि 'मैं जड़ विषयों का भोक्ता हूँ। और अविद्या, अस्मिता आदि पंच पर्वा अविद्यागुण* जीवके शुद्ध-चितकण-स्वरूपको आच्छादित कर लेते हैं। स्वतन्त्र वासनाका सद्‌व्यवहार अथवा असद् व्यवहार ही हमारे मुक्त अथवा बद्ध होनेका एकमात्र कारण है।'

व्रजनाथ—'कृष्ण परम करुणामय हैं। फिर उन्होंने जीवको ऐसा दुर्बल क्यों बनाया, जिससे वह मायामें फँस गया ?

बाबाजी—'कृष्ण करुणामय हैं, यह ठीक है; तथापि वे लीलामय भी हैं। भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी लीलाएँ होंगी—ऐसा सोचकर भगवान् श्रीकृष्णने जीवको तटस्थावस्थासे लेकर परमोच्च महाभावादि तक अनन्त उन्नत पदके लिये उपयोगी बनाया है तथा इस उपयोगिताकी सुविधा और दृढ़ताके लिये अत्यन्त नीचे मायिक जड़से लेकर अहंकार तकको परमानन्दकी प्राप्तिमें अनन्त बाधा-स्वरूप मायिक निम्नस्तरोंकी सृष्टि भी किये हैं। माया बद्ध जीव स्वरूपसे विच्युत, निजसुखकर और कृष्णसे विमुख होते हैं। जीव इस अवस्थामें जितना ही अधिक नीचे गिरता जाता है, करुणावरुणालय श्रीकृष्ण अपने धाम और पार्षदोंके साथ उनके सामने आविर्भूत होकर उनको उच्च गति प्राप्त करनेका उतना ही अधिक सुयोग प्रदान करते हैं। जो जीव इस सुविधाको ग्रहण कर उच्चगति प्राप्त होनेका प्रयास करते हैं, वे क्रमशः चिन्मय धाम तक पहुँच जाते हैं और वहाँ नित्य पार्षदोंकी अवस्था जैसी अवस्था प्राप्त करते हैं।'

व्रजनाथ—'ईश्वरकी लीलाके लिये दूसरे-दूसरे जीव क्यों कष्ट पाते हैं ?'

बाबाजी—जीवोंमें स्वतन्त्र वासनाका होना उनके ऊपर भगवानकी विशेष कृपाका परिचय है। क्योंकि स्वतन्त्र-वासनाके अभावमें जड़ वस्तु नितान्त हेय और तुच्छ होती है। स्वतन्त्र-वासनाके कारण ही जीवने जड़ जगत्‌की प्रभुता पायी है। 'क्लेश' और 'सुख' मनकी गति है। हम जिसे क्लेश मानते हैं, उसमें आसक्त व्यक्ति उसीको 'सुख' कहता है। समस्त प्रकारके विषय-सुखोंका अन्तिम परिणाम दुःखके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। विषयासक्त मनुष्य अन्तमें दुःख पाता है। वही दुःख अत्यन्त अधिक होने पर सुख पानेकी वासनाका जन्म देता है। फिर वासनासे विवेक और विवेकसे जिज्ञासा पैदा होती है। जिज्ञासाकी भावना उत्पन्न होनेसे साधु-संग प्राप्त होता है। साधु-संगमें श्रद्धा उत्पन्न होती है। श्रद्धा उत्पन्न होनेपर जीव उन्नत सोपान पर (भक्ति-मार्गपर) आरूढ़ होता है। जिस प्रकार सोना आगमें जलाकर हथौड़ीसे पीटने पर निर्मल होता है, उसी प्रकार जीव भी माया-भोग और कृष्ण-विमुखता रूपी मल से युक्त होने पर मायिक जगत्‌रूप पीठ अर्थात् आधार के ऊपर क्लेशरूप हथौड़ी द्वारा पीट-पीट कर शुद्ध किया जाता है। अतएव बहिर्मुख जीवका क्लेश

*पञ्चपर्वा अविद्या—तमः, मोह, महामोह, तमिस्र और अन्धतमिस्र।

अन्तमें सुखदायी होता है। इसलिये क्लेश—भगवान की करुणाका निदर्शन स्वरूप है। अतः कृष्णलीला में जीवोंका जो क्लेश दिखलायी पड़ता है, वह दूरदर्शी व्यक्तियोंके निकट मङ्गलप्रद प्रतीत होता है तथा अदूर-दर्शी व्यक्तियोंके निकट क्लेशप्रद प्रतीत होता है।'

व्रजनाथ—'जीवकी बद्धावस्थाका क्लेश यद्यपि अंतमें शुभदायक होता है, तथापि वर्त्तमान अवस्था में अत्यन्त कष्टदायक होता है; क्या सर्वशक्तिमान कृष्ण इस कष्टप्रद मार्गके अतिरिक्त कोई दूसरा पथ नहीं निकाल सकते थे ?'

बाबाजी—'कृष्णलीला बड़ी विचित्र और अनेक प्रकारकी होती है; यह भी उनकी अनेक प्रकारकी लीलाओंमें से एक प्रकारकी लीला है। स्वेच्छामय पुरुष जब सब प्रकारकी लीलाएँ कर रहे हैं, तब इसी लीलाको क्यों छोड़ दें ? सब प्रकारकी विचित्रताओं को जारी रखने से कोई भी लीला छोड़ी नहीं जा सकती। इसके अतिरिक्त दूसरी प्रकारकी लीला करने पर भी उस लीलाके उपकरणोंको किसी न किसी प्रकार कष्ट अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा। श्रीकृष्ण पुरुष और कर्त्ता हैं। समस्त उपकरण पुरुषकी इच्छा के अधीन होते हैं तथा कर्त्तारूप पुरुषके कर्मरूप विषय हैं। कर्त्ताकी इच्छाके अधीन होनेसे कुछ न कुछ कष्ट पाया जाना स्वाभाविक है। किन्तु वह कष्ट यदि अन्तमें सुखदायक हो, तब वह कष्ट—कष्ट नहीं है। तुम उसे कष्ट क्यों कह रहे हो ? कृष्णलीलाकी पोषकताके लिये जो कष्ट जैसा दिखलाई पड़ता है, वह जीवके लिये परम सुखमय होता है। श्रीकृष्णमें जो सुखका अंश है, उसे छोड़ कर स्वतन्त्र-वासनासे युक्त जीव मायाभिनिवेशजन्य क्लेश स्वीकार किया है—इसमें यदि किसीका कुछ दोष है तो वह दोष स्वयं जीवका ही है—कृष्णका नहीं।'

बाबाजी—स्वतन्त्रता एक अमूल्य रत्न है। इस स्वतन्त्रताके अभावमें जड़ पदार्थ तुच्छ और हेय हैं। यदि जीवको भी यह अमूल्य स्वतंत्रता न मिली होती, तो वह भी जड़-पदार्थोंकी तरह एक हेय और तुच्छ पदार्थ होता। जीव चित्-कण पदार्थ है। अतएव चित्-पदार्थके समस्त धर्म अणुचिद् जीवमें अवश्य ही पाये जायेंगे, किन्तु अन्तर यह है कि पूर्ण चित पदार्थमें जो सब धर्म पूर्णरूपमें पाये जाते हैं, अणुचित पदार्थ जीवमें वे अत्यन्त क्षुद्र परिमाणमें होते हैं। चित् पदार्थमें एक विशेष धर्म होता है, जिसे 'स्वतन्त्रता' कहते हैं। पदार्थके उस धर्मको पदार्थसे अलग नहीं किया जा सकता है। इसलिये जीव जिस परिमाणमें अणु होता है, उसीके अनुपात से उसमें 'स्वतन्त्रता'—रूप धर्म भी अवश्य ही होता है। इसी स्वतन्त्रताके कारण ही जीव जड़-जगत्में सबसे श्रेष्ठ पदार्थ है और समस्त जड़ जगत्का प्रभु है। ऐसी स्वतन्त्रतासे युक्त जीव कृष्णका प्रिय सेवक है। जीव जब अपनी स्वतंत्रताका अपव्यवहार कर मायाके प्रति अभिनिविष्ट होता है, तब करुणामय कृष्ण जीवका अमङ्गल होता देखकर रोते-रोते उसके पीछे-पीछे उसका उद्धार करनेके लिये जड़ जगत्में पधारते हैं। करुणासागर श्रीकृष्ण जीवोंके प्रति करुणासे आर्द्र होकर अपनी अचिन्त्यलीलाको प्रपंचमें प्रकट करते हैं—क्योंकि वे सोचते हैं कि जीव जड़-जगत्में मेरी अमृतमयी लीलाका दर्शन नहीं कर पायेगा। इतनी दयाके उपरांत भी जब जीव उस लीला-तत्त्वको भी समझनेमें असमर्थ होता है, तब वे (श्रीकृष्ण) श्रीनवद्वीपमें अवतीर्ण होकर गुरुके रूप में परम उपाय-स्वरूप अपने नाम, रूप, गुण और लीला-कथाओंकी स्वयं व्याख्या करते हैं तथा स्वयं आचरण कर जीवोंको वैसा करनेके लिए प्रेरणा और शिक्षा देते हैं। बाबा ! ऐसे दयामय कृष्णको क्या तुम किसी प्रकारसे दोषारोप कर सकते हो ? उनकी करुणा अपार है, परन्तु हमारा दुर्दैव अत्यन्त शोचनीय है।'

(क्रमशः)